नैतिकता का सुख

परम पावन दलाई लामा

अनुवादक : तेंजिन रवि वर्मा

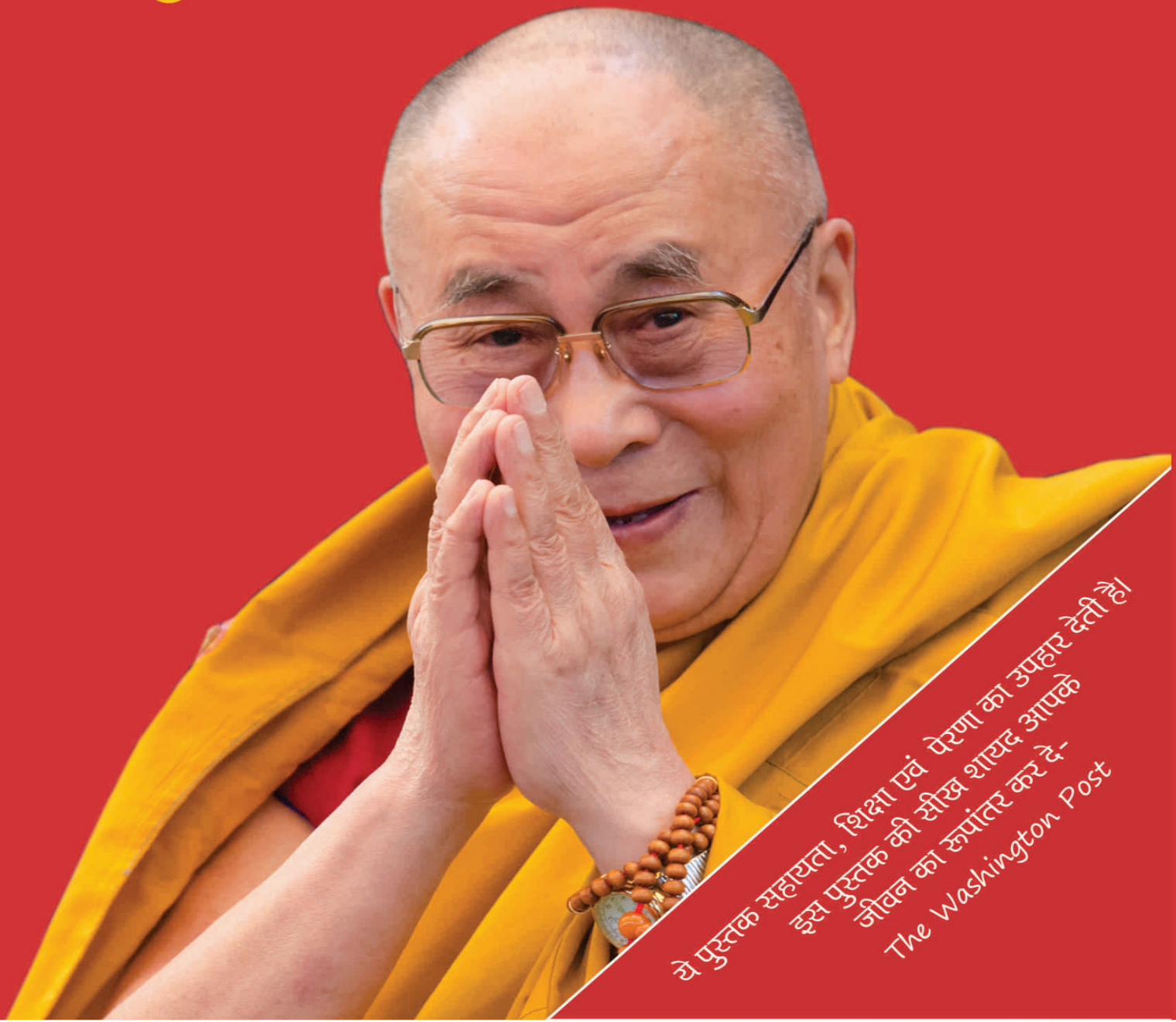

ये पुस्तक सहायता, शिक्षा एवं प्रेरणा का उपहार देती है। इस पुस्तक की सीख शायद आपके जीवन का रूपांतर कर दे-
The Washington Post

नैतिकता का सुख

परम पावन दलाई लामा

अनुवादक : तेंजिन रवि वर्मा

ना, शिक्षा एवं प्रेरणा का उपहार देती है।
क की सीख शायद आपके
ा रूपांतर कर दे-
ington Post

ये पुस्तक महायो
इस पुस्तक
जीवन क
The Washi

नैतिकता का सुख

परम पावन दलाई लामा
अनुवादक: तेंजिन रवि वर्मा

Bharati Prakashan
Banaras, India

Contents

प्रस्तावना _____ 3

अनुवादक के दो शब्द _____ 5

अध्याय १ - आधुनिक समाज एवं मनुष्य की खुशी की तलाश _____ 7

अध्याय २ - न जादू न रहस्य _____ 14

अध्याय ३ - प्रतीत्यसमुत्पाद एवम् यथार्थ का स्वरुप _____ 21

अध्याय ४ - लक्ष्य का पुनर्निर्धारण _____ 28

अध्याय ५ - एक सर्वोत्तम भावना _____ 36

अध्याय ६ - संयम की नैतिकता _____ 44

अध्याय ७ - सद्गुण की नैतिकता _____ 53

अध्याय ८ - करुणा की नैतिकता _____ 63

अध्याय 9 - नैतिकता एवं दुःख _____ 67

अध्याय १० - विवेक की आवश्यकता _____ 72

अध्याय ११ - वैश्विक उत्तरदायित्व _____ 78

अध्याय १२ - निष्ठा के सोपान _____ 83

अध्याय १३ - समाज में नैतिकता _____ 86

अध्याय १४ - शांति एवं निःशस्त्रीकरण _____ 96

अध्याय १५- आधुनिक समाज में धर्म की भूमिका _____ 103

अध्याय १६ - एक विनम्र आग्रह _____ 107

प्रस्तावना

सोलह वर्ष की अवस्था में अपना देश खो कर एवं चौबीस वर्ष की अवस्था में शरणार्थी बन मैंने अपने जीवन में बड़ी कठिनाइयों का सामना किया है । जब मैं उनके विषय में सोचता हूँ तो लगता है कि उनसे बचने का मेरे पास न तो कोई साधन था न ही उनका कोई अच्छा समाधान संभव था । फिर भी, जहाँ तक मेरी मानसिक शांति एवं स्वास्थ्य का प्रश्न है, मैं दावा कर सकता हूँ कि मैंने उनका सामना भली भांति किया है । इसके फलस्वरूप मैं अपने सारे साधनों--मानसिक, शारीरिक, एवं आध्यात्मिक--के साथ उन कठिनाइयों का सामना करने में सफल रहा हूँ। अगर मैं चिंता से धराशायी हो जाता, तो मेरे स्वास्थ्य पर इसका बुरा असर होता। मेरे कार्यों में भी बाधा होती ।

[1]

जब अपने आसपास देखता हूँ तो पाता हूँ कि सिर्फ हम तिब्बत के शरणार्थी और विस्थापित समुदाय के लोग ही नहीं कठिनाइयों का सामना करते हैं। हर जगह एवं हर समाज में लोग कष्ट एवं विपदा झेलते हैं, वे भी जो स्वतंत्रता एवं भौतिक समृद्धि का आनन्द लेते हैं। वास्तव में, मुझे ऐसा लगता है कि हम मनुष्यों का अधिकांश दुःख हमारे स्वयं का किया है। इसीलिए एक सिद्धान्त के रूप में कम से कम इससे बचना संभव है। मैं यह भी देखता हूँ कि सामान्यतया ऐसे व्यक्ति जिनका व्यवहार नैतिक रूप से सकारात्मक होता है, वे ज्यादा प्रसन्न एवम् सन्तुष्ट रहते हैं उन लोगों की तुलना में जो नैतिकता की अवहेलना करते हैं। इससे मेरी धारणा की पुष्टि है कि अगर हम अपने विचार एवं अपने व्यवहार में बदलाव ला सकें, तो हम न तो सिर्फ कष्ट का सामना ज्यादा आसानी से करना सीखेंगे, हम बहुत सारे दुखों को उत्पन्न होने से भी रोक सकेंगे।

[2]

मैं इस पुस्तक में यह दिखाने का प्रयास करूँगा कि पारिभाषिक पद "सकारात्मक नैतिक व्यवहार" से मेरा क्या तात्पर्य है। ऐसा करने में मैं मानता हूँ कि नैतिकता एवं सदाचार की सफलता से सामान्यीकरण करना अथवा एकदम निश्चित व्याख्या कठिन है। बहुत ही विरले, अगर कभी हो भी तो, कोई घटना एकदम श्वेत या श्याम होती है । एक ही कार्य भिन्न परिस्थितियों में भिन्न नैतिकता एवं सदाचार के रंग एवं मात्रा का होता है। उसी समय, यह आवश्यक है कि इसमें हम इस बात पर एकमत हों कि सकारात्मक कार्य क्या है और नकारात्मक कार्य क्या है, सही क्या है और गलत क्या है, उचित क्या है और अनुचित क्या है। पहले लोगों में धर्म के लिए जो आदर था उसका अर्थ था कि एक या दूसरे धर्म के अभ्यास से बहुसंख्यक लोग नैतिक आचार बनाये रखते थे। लेकिन अब ऐसा नहीं है ।

इसलिए हमें मूलभूत नैतिक सिद्धांतों की स्थापना करने के लिए निश्चय ही कोई दूसरा उपाय ढूंढना चाहिए ।

[3]

पाठक गण यह नहीं सोचें कि दलाई लामा के रूप में मेरे पास देने के लिए कोई विशेष समाधान है। इन पृष्ठों में ऐसा कुछ नहीं है जो पहले नहीं कहा गया हो । वास्तव में मुझे लगता है कि जो चिंतन एवं विचार यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें वे बहुत सारे लोग मानते हैं जो हम मनुष्यों की समस्याओं एवं कष्ट के समाधान के बारे में सोचते हैं और प्रयास करते हैं। मेरे कुछ मित्रों के सुझाव के उत्तर में एवं पाठकों को यह पुस्तक प्रस्तुत करने में मेरी आशा है कि उन करोड़ों लोगों को आवाज़ मिलेगी जिन्हें सार्वजनिक रूप से अपने विचारों को प्रकट करने का मौका नहीं मिलता है तथा जिन्हें मैं मूक बहुसंख्यक मानता हूँ ।

[4]

लेकिन पाठक यह भी याद रखें कि मेरी विधिवत शिक्षा पूर्ण रूप से धार्मिक एवं आध्यात्मिक रही है। बचपन से ही मेरी शिक्षा का प्रमुख (और निरन्तर) विषय बौद्ध दर्शन एवं मनोविज्ञान रहा है। खास तौर से मैंने गेलुक प्रथा के धार्मिक, दार्शनिक विद्वानों के कार्यों का अध्ययन किया है, जिस परम्परा से सारे दलाई लामा आते रहे हैं। धार्मिक बहुलवाद में पूर्णतया विश्वास होने के कारण मैंने अन्य बौद्ध परम्पराओं के मुख्य शास्त्रों का भी अध्ययन किया है । परन्तु इसकी तुलना में मुझे आधुनिक धर्मनिरपेक्ष दर्शन को जानने का कम मौका मिला है। फिर भी यह एक धार्मिक पुस्तक नहीं है । यह बौद्ध धर्म के बारे में भी नहीं है। मेरा लक्ष्य नैतिकता के लिए एक ऐसे मार्ग का आह्वान करना है, जो वैश्विक सिद्धांतों पर आधारित हो, न कि धार्मिक सिद्धांतों पर।

[5]

इस कारण वश, सामान्य पाठक गण के लिए पुस्तक लिखना बिना चुनौतियों के नहीं हुआ है, एवं यह एक समूह के परिश्रम का फल है। एक खास समस्या इस कारण से हुई कि तिब्बती भाषा के कई अनिर्वाय शब्दों का आधुनिक भाषा में अनुवाद करना कठिन है। इस पुस्तक का उद्देश्य एक दर्शनशास्त्र का आलेख बनना नहीं था, इसलिए मैंने प्रयास किया है कि मैं इन तथ्यों का ऐसे वर्णन करूँ ताकि जो विशेषज्ञ पाठक नहीं हैं वे भी समझ सकें एवं उनका अन्य भाषाओं में भी स्पष्ट अनुवाद हो सके। ऐसा करने में, एवं उन लोगों के लिए सुस्पष्ट व्याख्या करने में जिनकी भाषा एवं संस्कृति मेरे से काफी भिन्न हो, यह संभव है कि तिब्बती भाषा की गूढ़ता खोयी हो, और कुछ अनचाहे अर्थ जुड़ गये हों। मेरा विश्वास है कि सतर्क संपादन ने ऐसा न्यूनतम कर दिया हो । जब भी कोई ऐसी गलती सामने आती है, मुझे आशा है कि आने वाले संस्करण में मैं उनका सुधार करूँगा । इस बीच में, इस

विषय में उनकी सहायता के लिए, इसे इंग्लिश में अनुवाद करने के लिए, एवं उनके अनगिनत सुझाओं के लिए मैं डॉक्टर थुप्टेन जिन्पा को धन्यवाद देता हूँ। मैं श्री ए आर नार्मन को भी संशोधन के लिए धन्यवाद देता हूँ। यह बहुमूल्य रहा है। अंत में, मैं उन सब को धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को सफल बनाने में सहायता की है।

[6]

धर्मशाला, फ़रवरी १९९९

मनन योग्य प्रश्न

१. "सकारात्मक नैतिक व्यवहार" से लेखक का क्या तात्पर्य है?

२. आप नैतिकता के ऐसे मार्ग की सम्भावना के बारे में क्या सोचते हैं जो वैश्विक सिद्धांतों पर आधारित हो, न कि धार्मिक सिद्धांतों पर।

अनुवादक के दो शब्द

मेरा इस पुस्तक से सम्बन्ध पंद्रह साल से ज्यादा हो गया है, पहले पाठक के रूप में फिर अनुवाद के दौरान। बौद्ध मार्ग और परम पावन दलाई लामा जी से परिचय, दोनों ही सौभाग्य मुझे इस पुस्तक के द्वारा मिला। जीवन के कष्टों का सामना करने में इस पुस्तक से इतनी मदद मिली है कि अफसोस होता कि यह मुझे वर्षों पहले क्यों नहीं मिली। अनुवादन में प्रयास लगाने की पीछे मेरी कामना है कि मेरी मातृ भूमि में बहुत से लोगों को इससे वही लाभ मिलेगा जो मुझे मिला है।

इस पुस्तक से मुझे जो पहली सीख मिली वह यह कि, नैतिक आचरण मेरे ही हित में है। यह वाक्य शायद काफी सामान्य लगे लेकिन इस पुस्तक को पढ़ने के पहले मेरी यह धारणा थी कि नैतिकता अच्छी बात है, परन्तु नैतिक व्यवहार से कर्ता की कुछ न कुछ हानि ही होती है। शायद कुछ लोग ऐसे व्यक्ति को मूर्ख भी समझें। इस विषय पर हिंदी के प्रख्यात व्यंगकार श्री हरि शंकर परसाई जी का निबंध "बेचारा भला आदमी" पढ़ने योग्य है। परम पावन दलाई लामा जी की इस कालजयी रचना के प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद के सम्बन्ध में मेरा विचार है कि यदि लोग नैतिक आचरण में सद्यःनिहित अपने हित-लाभ को समझेंगे तो इससे लोगों में नैतिक आचरण के प्रति उत्साह बढ़ेगा और जगत का कल्याण होगा।

मुझे दूसरी समझ यह मिली कि नैतिकता एक जटिल एवम् सूक्ष्म विचार का विषय है। सिर्फ यह कह देना पर्याप्त नहीं है कि "झूठ बोलना पाप है" अथवा "चोरी करना अनुचित है"। श्री दलाई लामा जी नैतिकता की विवेचना, हमारे आचरण के दूसरों पर पड़ने वाले प्रभाव के प्रसंग में करके, हम सब को इस विषय पर नवीन दृष्टिकोण से सोचने समझने का अवसर देते हैं।

मैंने एक बार श्री दलाई लामा जी से सुना था कि, स्वार्थ दो तरह को होता है - बुद्धिमानी वाला स्वार्थ एवं मूर्खता वाला स्वार्थ । नैतिक आचरण का अभ्यास बुद्धिमानी वाला स्वार्थ है । चूँकि स्वार्थ सुनने में थोड़ा कठोर लगता है, अतः मेरे एक मित्र ने सुझाव दिया कि हम इसे जागरूकता सहित स्वयम् का हित करने का भाव कहें ।

ज्यादातर लोग श्री दलाई लामा जी को एक धर्मगुरु के रूप में जानते हैं एवं अक्सर धर्मगुरूओं की पुस्तकें प्रवचन वाली होती हैं किन्तु यह पुस्तक प्रवचन नहीं है । मैं इस पुस्तक को अपनी भौतिक शास्त्र, रासायन शास्त्र एवं गणित आदि विषयों की पुस्तकों के साथ रखता हूँ । इस पुस्तक में श्री दलाई लामा जी ने अपने अनुभव के आधार पर मानव मात्र को जीवन जीने की शैली सिखाई है जिसका हम अपने दैनिक जीवन में प्रयोग करके स्वयम् इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि हमें इससे क्या लाभ हो रहा है, क्या नहीं ।

इस पुस्तक को पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि जिस व्यक्ति का आचरण नैतिकता, स्नेह एवं करुणा युक्त होता है वह उन लोगों से ज्यादा सुखी होता है जो इन धारणाओं की अवहेलना करते हैं । साथ ही यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि, नैतिक व्यवहार द्वारा औरों के कल्याण में ही हमारा स्वयम् का कल्याण भी निहित है ।

इस पुस्तक में आप दु:ख एवं पीड़ा का कई बार उल्लेख देखेंगे । सामान्यतया हम इन शब्दों को पर्यायवाची समझते हैं । परन्तु इस पुस्तक में दोनों का तात्पर्य भिन्न है । पीड़ा का अर्थ है, अनिवार्य शारीरक कष्ट जैसे जन्म, रोग, वृद्धावस्था, दुर्घटना इत्यादि एवं दु:ख का तात्पर्य मानसिक अवस्था से है । दु:ख वह है जो ऐसे व्यक्ति को भी होता है जिसका पेट भरा होता है, जिसके तन पर अच्छे वस्त्र होते हैं, बैंक में पर्याप्त धन होता है। दु:ख ऐसी चीज़ है जो वातानुकूलित कक्ष में बैठने वाले व्यक्ति को भी व्यथित करती है । श्री दलाई लामा जी इस मानसिक दु:ख को व्यर्थ का क्लेश कहते हैं । इस पुस्तक में उन्होंने वह सारे उपाय बतायें हैं जिसकी सहायता से हम अपने इन व्यर्थ दु:खों का उन्मूलन कर सकते हैं । श्री दलाई लामा जी ने एक बार कहा था पीड़ा अनिवार्य है लेकिन दु:ख कृत्रिम है । इस पुस्तक में उन्होंने एक जीवन शैली का वर्णन किया है जिससे हम दु:ख की सम्भावना को न्यूनतम कर सकते हैं ।

मैं शिक्षा एवं व्यवसाय से इंजीनियर हूँ एवं हम इंजीनियरों का स्वभाव है कि हम किसी भी शिक्षा को बिना तर्क के स्वीकार नहीं कर सकते। इस पुस्तक में श्री दलाई लामा जी ने सिर्फ उचित एवं अनुचित की परिभाषा ही नहीं दी है, बल्कि उन्होंने उचित को सटीक तर्कों व उदाहरणों द्वारा समझाया भी है। मेरे लिए यह पुस्तक उपयोगी रही है क्योंकि उचित एवं अनुचित की परिभाषा के साथ उन्होंने एक अत्यन्त सहज जीवन शैली की शिक्षा दी है जिससे हम सभी अपने मानसिक दु:ख को कम कर सकते हैं ।

श्री दलाई लामा जी पूरे विश्व में अत्यन्त लोकप्रिय हैं । मैंने उन्हें पहली बार सैन फ्रांसिस्को, अमेरिका में देखा था । मैं दर्शकों में उनके लिए स्नेह एवं आदर को देख कर अचम्भित था । यह भले हास्यप्रद लगे, मैंने कई लोगों में इस बात को लेकर ईर्ष्या का भाव देखा एवं कई लोगों को श्री दलाई लामा जी जैसे प्रसिद्ध बनने का प्रयास करते हुये भी देखा है । इस पुस्तक में उन्होंने वह सारे रहस्य बताये हैं जिनके कारण उनका व्यक्तित्व इतना चुंबकीय हैं । लोग छोटी से छोटी बात पर भी उनके ठहाके लगाकर हंसने की क्षमता से आश्चर्यचकित रहते हैं । इस पुस्तक में श्री दलाई लामा जी ने वह सारे सुझाव दिये हैं जिनका पालन करने से व्यक्ति जीवन की सारी कठिनाइयों के पश्चात भी उनकी तरह प्रसन्नचित्त रह सकता है । श्री दलाई लामा जी ने अपने जीवन में जिन विराट कठिनाईयों का सामना किया है वह हम सबको पता है, इन सब के बावजूद उनकी सद्य:विद्यमान प्रच्छन्न हँसी सभी को मंत्रमुग्ध कर देती है।

स्वतंत्रता के पश्चात भारतवर्ष में समृद्धि बढ़ी है । मैं बिहार के पिछड़े इलाकों में काफी समय व्यतीत करता हूँ एवं देखता हूँ कि वहां भी लोगों के रहन सहन के स्तर में काफी बदलाव हुआ है । बड़े शहरों में यह बदलाव और भी अधिक है । आज भारत के बड़े नगरों में अमेरिका एवं यूरोप के सुख-साधन आसानी से उपलब्ध हैं । दुर्भाग्यवश शारीरिक या भौतिक सुख एवं मानसिक सुख में बहुत गहरा सम्बन्ध नहीं है । यह दृश्य काफी कष्टप्रद होता है कि एक व्यक्ति सारी शारीरिक व भौतिक सुख सुविधा के बावज़ूद मन से चिंतिंत एवं दुखी रहता है ।

आज भारत के हर ऐसे समृद्ध व्यक्ति, जिसे पर्याप्त शारीरिक व भौतिक सुख प्राप्त है, को नैतिकता की समझ की बहुत आवश्यकता है ताकि वह मानसिक रूप से भी सुखी हो सकें । परम पावन श्री दलाई लामा जी की यह पुस्तक हर आधुनिक भारतीय व्यक्ति के लिए अनिवार्य होनी चाहिए ।

मुझे इस प्रयास में कई लोगों से बड़ी मदद मिली है। उसमे से मुख्य हैं भारतीय प्रौद्योगिक संस्थान, कानपुर के प्रोफेसर अरुण कुमार शर्मा जी, सारनाथ स्थित केन्द्रीय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर नवांग समतेन जी एवं राजेश कुमार मिश्र जी, कटिहार के निर्भीक पत्रकार राजरत्न कमल जी एवं भारती प्रकाशन, वाराणसी के अधिष्ठाता श्री आशुतोष पाण्डेय जी। प्रोफेसर अरुण शर्मा जी लम्बे समय से मेरे मार्गदर्शक, मित्र एवं भाई की तरह रहे हैं। उन्होंने एवं प्रोफेसर नवांग समतेन जी ने अपना बहुमूल्य समय देकर मेरे अनुवाद की गलतियों को सुधारा है। कटिहार के निर्भीक पत्रकार श्री राजरत्न कमल जी को मैं अपना कार्य सबसे पहले भेजता था और मैं डरता थे कि वे मेरी हिंदी की अशुद्धियों से परेशान होते होंगे, लेकिन उन्होंने मुझे कभी ऐसा महसूस नहीं होने दिया। सारनाथ स्थित केन्द्रीय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय के ग्रंथालय के प्रमुख श्री राजेश कुमार मिश्र के लिए अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं । उनके पिता श्री शिव प्रसाद मिश्र जी एवं उन्होंने इस प्रयास में काफी सहायता की है। राजेश जी ने ही मेरा परिचय भारती प्रकाशन के अधिष्टाता श्री आशुतोष पाण्डेय जी से करवाया । श्री आशुतोष पाण्डेय जी से मेरा सम्बन्ध होना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। उनके निरन्तर तकाज़ा करने के कारण मैं यह कार्य समय से पूर्ण कर पाया। ऐसी पुस्तकों के प्रकाशक आशुतोष जी जैसे लोग ही हो सकते हैं जिनके लिए प्रकाशन सिर्फ व्यवसाय नहीं है बल्कि वह इस माध्यम से देश का कल्याण भी करना चाहते हैं ।

अंत में मैं परम पावन श्री दलाई लामा जी को नमन करता हूँ । सम्पूर्ण मानवता के लिए नैतिकता का ऐसा स्नेहपूर्ण एवं धर्म निरपेक्ष व्याख्यान उनके जैसा महापुरुष ही कर सकता है।

रवि वर्मा

कटिहार, बिहार, भारत एवं रॉकलिन, कैलिफ़ोर्निया, संयुक्त गणराज्य अमेरिका

अध्याय १ - आधुनिक समाज एवं मनुष्य की खुशी की तलाश

अन्य लोगों की तुलना में मैं आधुनिक समाज का नवागंतुक हूँ। यद्यपि मैं अपनी मातृभूमि को एक लंबे समय पूर्व 1959 में छोड़ चुका हूँ, और यद्यपि भारत में एक शरणार्थी की अवस्था मुझे वर्तमान समाज के काफी पास लायी है। अपने जीवन के आरम्भ के वर्षों में मैं बीसवीं शताब्दी के यथार्थ से अलग थलग ही रहा। कुछ हद तक इसकी वजह रही है मेरी दलाई लामा के रूप में नियुक्ति। मैं बहुत छोटी उम्र में भिक्षु बन गया था। इस से यह भी दिखता है कि हम तिब्बत के लोगों को अपने देश को बाकी दुनिया से अलग-थलग पहाड़ों की ऊँची श्रृंखलाओं के पीछे रखने का निर्णय मेरी दृष्टि में गलत था।

[1]

किन्तु आज के दिन मैं काफी यात्रा करता हूँ और मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मैं लगातार नये लोगों से मिलता रहता हूँ। इसके अतिरिक्त यह भी है कि जीवन के अनेक क्षेत्रों के लोग मुझसे मिलने आते हैं। बहुत से लोग बहुत कष्ट उठाकर, कुछ ढूंढते हुए, धर्मशाला आते हैं जो एक पर्वतीय पर्यटन स्थल है और प्रवास की अवधि में मेरा निवास स्थल है। इन लोगों में ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिन्होंने बड़े कष्ट सहे हैं, कुछ लोगों के माता पिता का देहांत हो चुका होता है; कुछ के परिवार के सदस्य अथवा मित्रों ने आत्महत्या की होती है; कुछ कैंसर अथवा एड्स जैसी बीमारियों से ग्रस्त होते हैं। इसके अलावा, स्वभावतः मेरे साथी तिब्बत के लोग होते हैं जिनकी कठिनाइयाँ एवं परेशानियों की अपनी एक दास्ताँ होती है। दुर्भाग्य से, कई लोगों की यह अवास्तविक अपेक्षा होती है कि मेरे पास कुछ अद्भुत शक्ति है या मैं कुछ वरदान दे सकता हूँ। लेकिन मैं सिर्फ एक साधारण मनुष्य हूँ। मैं ज्यादा से ज्यादा यह कर सकता हूँ कि मैं उनके दुःख में हिस्सा ले उनकी मदद करने का प्रयत्न कर सकूँ।

[2]

जहाँ तक मेरा प्रश्न है, सारी दुनिया एवं जीवन के अनेक क्षेत्रों के बहुत से लोगों से मिल कर मुझे यह एहसास होता कि हम सभी मनुष्य एक जैसे हैं। यह सत्य है कि मैं जितना ज्यादा दुनिया को देखता हूँ उतनी ही यह बात साफ दिखती है कि हमारी स्थिति जो भी हो, हम समृद्ध हों या गरीब, शिक्षित हों या अशिक्षित, हमारी जाति, लिंग, धर्म जो भी हो, हम सभी चाहते हैं कि हम खुश रहें एवं हमें दुःख न हो। हमारे सारे सोच समझ कर किये गए कार्यों को और एक प्रकार से अपनी वर्तमान स्थिति की सीमा के परिप्रेक्ष्य में हमारे जीवनयापन के सारे निर्णयों को हम इस वृहत प्रश्न के रूप में देख सकते हैं जो हम सभी के सामने है, "मैं कैसे सुखी रह सकता हूँ?"

[3]

मुझे लगता है कि हम सुख की एक वृहत खोज में आशा के सहारे टिके हुए हैं। हम जानते हैं भले हम इस बात को स्वीकार ना करें, इस बात की कोई निश्चितता नहीं है कि हमारे भविष्य के दिन हमारे वर्तमान की तुलना में अच्छे होंगे। एक पुरानी तिब्बती कहावत है अगला दिन या अगला जन्म, हम कभी निश्चित नहीं हो सकते कि पहले क्या आयेगा। लेकिन हम लम्बे समय तक जीवित रहने की आशा करते हैं। हम आशान्वित रहते हैं कि हमारे इस कार्य अथवा उस कार्य से हमें सुख प्राप्त होगा। हम जो भी करते हैं--न ही सिर्फ व्यक्तिगत स्तर पर, सामाजिक स्तर पर भी--उसे हम मौलिक आकांक्षा के तौर पर देख सकते हैं। वास्तव में, हम सभी प्राणी इस कामना के साझीदार हैं। खुशी रहने की एवं दुःख से बचने की कामना या इच्छा वैश्विक है। यह हमारी प्रकृति में है। इस बात को न्यायोचित ठहराने के लिए किसी तर्क की जरूरत नहीं है और यह सामान्य तथ्य से मान्य होता है कि हम स्वाभाविक रूप से खुशी चाहते हैं और यह उचित भी है।

[4]

चाहे अमीर देश हो या गरीब देश, हमें हर जगह बिलकुल ऐसा ही दिखाई देता है। हर जगह, हर सम्भव साधन से, लोग अपने जीवन को सुधारने में लगे हुए हैं। फिर भी आश्चर्य से मुझे ऐसा लगता है कि आर्थिक रूप से विकसित राष्ट्रों में रहने वाले लोग, तमाम कारखानों के साथ, कुछ मामलों में पिछड़े हुए देशों की तुलना में कम संतुष्ट, कम खुश, एवं कुछ हद तक ज्यादा कष्ट भोगते हैं। सच तो यह है, जब हम अमीरों की तुलना गरीब लोगों से करते हैं, तो लगता है कि जिनके पास कुछ नहीं है, वास्तव में वे सबसे कम चिंतित होते हैं, जबकि वह शारीरिक पीड़ा और कष्ट से ग्रसित रहते हैं। जहाँ तक अमीर लोगों का प्रश्न है, उनमें से कुछ लोगों को अवश्य ही अपने धन का बुद्धिमानी से उपयोग करना आता है अर्थात विलासिता में लिप्त रहने के बजाय जरूरतमंद लोगों की सहायता के लिए, ज्यादातर को ऐसा करना नहीं आता है। वे और धन जमा करने के चक्कर में ऐसे उलझे रहते हैं कि उनके जीवन में किसी अन्य चीज़ के लिए स्थान ही नहीं होता है। वे ऐसे डूबे रहते हैं कि वे अपने उन खुशी के सपनों को ही भूल जाते हैं जो उन्हें समृद्धि प्रदान करते । इसके फलस्वरूप, भविष्य में होने वाली दुर्घटना की आशंका और ज्यादा धन के लालच में फंस कर वे हमेशा उत्पीड़ित रहते हैं एवं मानसिक और भावात्मक कष्टों से ग्रसित होते हैं भले ही बाहर से वे सफल एवं आरामदायक जीवन व्यतीत करते हुए दिखते हों। इसका प्रमाण यह है कि हमें आर्थिक रूप से विकसित देशों की जनता में व्यापक रूप से तनाव, असंतुष्टि, कुंठा, अनिश्चितता, मानसिक विषाद, एवं निराशा मिलती है। इसके अतिरिक्त इस अंदर की पीड़ा का सीधा सम्बंध सदाचार के अर्थ एवं बुनियाद के बारे में बढ़ती हुई भ्रान्ति से है।

[5]

मुझे इस विरोधाभास का बोध अक्सर होता है जब मैं विदेश भ्रमण पर जाता हूँ। प्रायः ऐसा होता है कि जब मैं किसी नये देश में पहुँचता हूँ, पहले तो सब कुछ काफी अच्छा और सुन्दर लगता है। मैं जिनसे भी मिलता हूँ वे काफी सौहार्द से पेश आते हैं। किसी बात के लिए शिकायत करने का कारण नहीं होता। लेकिन दिनानुदिन जैसे मैं लोगों से मिलता हूँ, मैं लोगों की समस्याओं, उनकी परेशानियों एवं चिंताओं के बारे में सुनता हूँ। ऊपरी सतह के नीचे अनेकानेक लोग अपने जीवन से असंतुष्ट एवं परेशान होते हैं। उन्हें अकेलापन लगता है जिसके बाद मानसिक विषाद आता है । इसका परिणाम है क्लेश का वातावरण, जो विकसित राष्ट्रों का विशेष लक्षण सा हो गया है।

[6]

शुरू में मुझे यह सब देख कर बड़ा आश्चर्य होता था। हालाँकि, मैंने कभी ऐसा नहीं सोचा था कि सिर्फ भौतिक धन से सभी दुखों का निवारण हो सकता है, तिब्बत, जो भौतिक रूप से सर्वदा गरीब रहा है, में रहकर मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं सोचता था कि समृद्धि ने मनुष्य की पीड़ा को कम करने में ज्यादा योगदान दिया होगा, जो वास्तव में सही नहीं निकला। मेरी आशा थी कि शारीरिक कठिनाइयों के कम होने से, जैसा कि हर विकसित राष्ट्र में रहने वाले ज्यादातर लोगों के लिए वास्तविकता है, सुख की प्राप्ति आसानी से होती होगी, बनिस्बत उन लोगों के जो काफी विकट परिस्थिति में रहते हैं। इसके बजाय, ऐसा लगता है के विज्ञान एवम् तंत्र की अद्भुत प्रगति से सिर्फ सांख्यकीय सुधार से ज्यादा कुछ नहीं आया है। कई उदाहरणों में प्रगति का मतलब सिर्फ यह हुआ कि शहरों में शानदार भवन और उनके बीच चलने वाले वाहनों की संख्या बढ़ी है। यकीनन, कुछ तरह के कष्टों में कमी हुई है, खासकर के कुछ व्याधियाँ कम हुई हैं। लेकिन मुझे लगता है कि सब मिलाजुला कर हमारा दुःख कम नहीं हुआ है।

[7]

इस सन्दर्भ में मुझे अपनी शुरू की पश्चिम की यात्रा की एक बात अच्छी तरह याद है। मैं एक बहुत समृद्ध परिवार का मेहमान था जो एक बड़े वैभवशाली घर में रहते थे। हर व्यक्ति काफी सौम्य और विनम्र था। हर व्यक्ति की हर जरूरत के लिए नौकर तैनात थे और मैं सोचने लगा कि यही सही प्रमाण है कि धन खुशी का स्रोत हो सकता है। मेरे मेजबान वाकई तनाव मुक्त एवं आत्मविश्वासी दिखते थे। लेकिन जब मैंने उनके स्नानागार में आलमारी के थोड़े से खुले हुए दरवाजे से नींद एवं दिमाग को शांत करने वाली दवाइयों की कतार देखी, तब मुझे इस बात का जोर से आभास हुआ कि जो बाहर से दिखता है और जो अंदर की सच्चाई है, उनके बीच अक्सर काफी बड़ी खाई होती है।

[8]

यह विरोधाभास पूरे पश्चिम के राष्ट्रों में स्पष्ट रूप से विद्यमान है जिनमें भौतिक संपन्नता के रहते हुए आंतरिक दुःख--या जिसे हम मानसिक अथवा भावात्मक दुःख कह सकते हैं--इतना ज्यादा पाया जाता है। वास्तव में, यह इतना व्यापक है कि हम संदेह कर सकते हैं कि पाश्चात्य सभ्यता में कुछ ऐसी बात है जिससे वहाँ रहने वाले लोगों के ऐसे कष्ट में होने की प्रवृत्ति है? मैं इसमें संदेह करता हूँ। इसमें कई बाते हैं। स्पष्ट है कि भौतिक प्रगति ही का इसमें थोड़ा हाथ है। हम यह भी कह सकते हैं कि आधुनिक समाज के बढ़ते शहरीकरण की वजह से ज्यादा तादाद में लोग एक दूसरे के काफी पास पास रहने लगे हैं। इस सन्दर्भ में यह सोचिये कि हम एक दूसरे पर निर्भर होने के बजाय, आज, जहाँ तक सम्भव होता है, हम मशीनों अथवा बाहरी मदद का सहारा लेते हैं। जबकि पहले किसान फसल काटने में मदद के लिए अपने परिवार के सदस्यों को बुला लेते थे, आज के दिन वे टेलीफोन कर किसी ठेकेदार को बुला लेते हैं। वे पाते हैं कि हमारा आधुनिक जीवन ऐसे सुनियोजित है कि यह दूसरों पर कम से कम सीधी निर्भरता की मांग करता है। कमोबेश व्यापक महत्वाकांक्षा यही लगती है कि हर व्यक्ति के पास अपना घर हो, अपनी कार हो, अपना कंप्यूटर हो, ताकि हर व्यक्ति जहाँ तक सम्भव हो आत्मनिर्भर हो जाए। यह स्वाभाविक है और आसानी से समझ में आ जाती है। विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति से जो हमें स्वायत्तता मिली है, उसके कई फायदे हैं। वास्तव में वर्तमान समय में यह संभव है कि हम पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आत्मनिर्भर हो सकते हैं । लेकिन इस प्रगति के साथ ऐसी मानसिकता भी पैदा हुई है कि मेरा भविष्य मेरे पड़ोसी पर नहीं बल्कि मेरी नौकरी पर, बहुत ज्यादा हुआ तो मेरे नियोक्ता पर निर्भर है। यह हमें यह मानने के लिए प्रोत्साहन देती है कि दूसरे लोग हमारी खुशी के लिए जरूरी नहीं हैं और दूसरों की खुशी हमारे लिए कोई मायने नहीं रखती।

[9]

मेरे विचार में हम लोगों ने ऐसा समाज बना लिया है, जिसमें लोगों के लिए एक दूसरे की ओर साधारण स्नेह दिखाना भी कठिन एवं कठिनतर हो गया है। सामूहिकता एवं अपनेपन की जगह, जो कम समृद्धि वाले समाजों (जो ज्यादातर ग्रामीण होते हैं) का आश्वस्त करने वाला स्वभाव हम पाते हैं, समृद्ध देशों में काफी अकेलापन और उदासीनता पाते हैं। करोड़ों लोगों के एक दूसरे के बिलकुल पास पास रहने के बावजूद, देखने में आता है कि बहुत से लोगों के लिए, विशेषकर बूढ़े लोगों के लिए, उनसे बात करने वाला, उनके कुत्ते बिल्लियों के अलावा कोई नहीं है। मुझे अक्सर आधुनिक समाज एक विशाल खुद-ब-खुद चलने वाली मशीन की तरह लगता है। बजाय इसके कि एक मानव इसका नियंत्रण करे, हर मनुष्य इसका अदना सा महत्त्वहीन हिस्सा बन गया है, जिसके पास मशीन के साथ-साथ चलने के अलावा और कोई चारा नहीं है।

[10]

वर्तमान समय में विकास और आर्थिक विकास की बात, जो लोगों के अंदर प्रतिस्पर्धा एवं ईर्ष्या को बढ़ावा देती है, ने इस समस्या को और भी विकराल बना दिया है। इसके साथ आती है दिखावे को बनाये रखने की जरूरत--जो खुद ही समस्या, तनाव, एवं दुःख का बड़ा कारण है। फिर भी मानसिक एवम् भावात्मक कष्ट जो हम पाश्चात्य सभ्यता में व्याप्त पाते हैं, एक सांस्कृतिक खामी से ज्यादा मूलभूत मानवीय प्रवृति को प्रतिबिंबित करता है। वास्तव में मैंने ऐसे आंतरिक कष्ट पाश्चात्य राष्ट्रों से बाहर भी देखा है। दक्षिण-पूर्व एशिया के कई हिस्सों में ऐसा देखा गया है कि जैसे जैसे लोगों के पास संपत्ति बढ़ी है, पारम्परिक विचार पद्धतियों का लोगों पर प्रभाव कम हो रहा है। इसके साथ हम पाते हैं कि पश्चिमी राष्ट्रों में अवस्थित क्लेश से मिलते जुलते लक्षण यहाँ भी उभर रहे हैं। यह सुझाव देता है कि यह सम्भावना हम सभी में विद्यमान है, जैसे शारीरिक व्याधियां अपने परिवेश को प्रतिबिम्बित करती हैं वैसे ही मानसिक एवं भावना से संबंधित क्लेश भी खास परिस्थिति के सन्दर्भ में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से हम दक्षिण, अविकसित, अथवा "तृतीय विश्व" के राष्ट्रों में वे समस्याएँ पाते हैं जो ज्यादातर उसी दुनिया के उसी हिस्से तक सीमित होती हैं, जैसे स्वच्छता का अभाव। विकसित देशों में हम गंदे पानी से पैदा होने वाली बीमारी के बदले, तनाव संबंधित रोग अधिक पाते हैं। इनका संकेत यह है और ऐसा मानने का प्रबल तर्क है कि बाहरी प्रगति पर अत्यधिक ध्यान दिये जाने एवं आधुनिक समाज में व्याप्त दुःख, चिंताओं, और असंतोष के बीच एक गहरा सम्बन्ध है।

[11]

यह सुनने में एक निराशावादी मूल्यांकन लग सकता है। लेकिन जबतक हम लोग अपनी समस्याओं के परिमाण एवं प्रकृति को स्वीकार नहीं करेंगे, हमलोग उनका सामना करने की शुरुआत भी नहीं कर सकते।

[12]

स्पष्ट है कि आधुनिक समाज के भौतिक विकास से उत्पन्न तृष्णा का मुख्य कारण विज्ञान एवं तकनीकी की सफलता ही है। अब मनुष्य के इन प्रयासों की प्रशंसनीय बात यह है कि ये अविलम्ब संतुष्टि देते हैं। यह प्रार्थनाओं की तरह नहीं हैं जिनका परिणाम ज्यादातर अदृश्य होता है--वह भी जब प्रार्थनाएँ सफल होती हों। हम फल से प्रभावित होते हैं। इससे सामान्य बात और क्या हो सकती है? दुर्भाग्य से, यह तृष्णा हमें यह मानने के लिए प्रोत्साहित करती है कि खुशी की कुंजी एक तरफ तो भौतिक समृद्धि में है, एवं दूसरी तरफ उस शक्ति में जो ज्ञान से प्राप्त होती है। इस सब में यह साफ है कि जो भी इस बात पर सावधानीपूर्वक गौर करता है, पाता है कि पहली वाली बात अपने आप ही खुशी नहीं दे सकती है और दूसरी वाली बात का प्रभाव उतना ज्यादा स्पष्ट नहीं है। सच्चाई तो यह है कि

ज्ञान अपने आप वह खुशी नहीं दे सकता जो आंतरिक विकास से आती है और जो बाहरी चीजों पर निर्भर नहीं करती। वास्तव में, बाहरी तथ्यों के बारे में हमारा विस्तृत ज्ञान एक बहुत बड़ी सफलता है, किन्तु इसी में सीमित रह जाने की चाह हमें खुशी देने के बजाय वास्तव में काफी खतरनाक हो सकती है। यह हमें मानव के अनुभवों के एक वृहत सत्य से दूर कर सकती है, खास करके हमारी पारस्परिक निर्भरता के बोध से।

[13]

हमें यह भी समझना चाहिये कि जब हम विज्ञान की बाहरी उपलब्धियों पर बहुत ज्यादा निर्भर होते हैं तब इसका परिणाम क्या होता है। उदाहरण के लिए, जैसे जैसे हम पर धर्म का प्रभाव कम होने लगता है, वैसे वैसे अपने आचरण के प्रश्न को लेकर हमारे मस्तिष्क में एक भ्रम की स्थिति बढ़ती जाती है। पहले के दिनों में धर्म एवं नैतिकता के बीच में काफी घनिष्ठ सम्बन्ध था। आज के दिन कई लोग ऐसा मानकर कि विज्ञान ने धर्म के अस्तित्व को नकार दिया है, यह पूर्वधारणा करते हैं कि आध्यात्मिक सत्ता का कोई सुनिश्चित प्रमाण नहीं है और नैतिकता को सिर्फ एक व्यक्तिगत निर्णय मात्र होना चाहिए। जबकि पूर्व में वैज्ञानिक एवं दार्शनिक लोग एक ऐसी ठोस नींव को ढूंढने की बड़ी जरूरत समझते थे जिस पर अपरिवर्तनशील नियमों एवं परम सत्यों की स्थापना की जा सके। आज के दिन ऐसी खोज को बेकार समझा जाता है। इसकी वजह से अब हम एक विपरीत, अतिवादी दिशा में चले गए हैं जहां पर अंततः कुछ नहीं बचता है, और जहां सत्य के विचार पर ही प्रश्न उठने लगता है। यह स्थिति हमें केवल एक अव्यवस्था की ओर ही ले जा सकती है।

[14]

ऐसा कह कर मेरा उद्देश्य वैज्ञानिक उद्योगों की आलोचना करना नहीं है। वैज्ञानिकों से मिल कर मैंने बहुत कुछ सीखा है और मैं उनसे वार्तालाप करने में कोई समस्या नहीं देखता हूँ, चाहे उनका दृष्टिकोण अतिवादी भौतिकवाद वाला ही क्यों न हो। वास्तव में जहाँ तक मुझे याद है, मैं विज्ञान के परिज्ञान से हमेशा मंत्रमुग्ध रहा हूँ। जब मैं छोटा बच्चा था, धार्मिक एवं दार्शनिक पढ़ाई से भी ज्यादा, मैं दलाई लामा के ग्रीष्म गृह के भंडार घर में पड़े हुए पुराने फिल्म प्रोजेक्टर को चलाने के बारे में जानने का अधिक इच्छुक था। मेरी चिंता केवल इस बात को लेकर है कि हम लोगों में विज्ञान की सीमाओं को नजरंदाज करने की प्रवृत्ति है। धर्म को ज्ञान के परम स्रोत के स्थान से हटाने के प्रयास में विज्ञान स्वयं समाज में एक अन्य धर्म जैसा दिखने लगता है। इसके साथ फिर वैसा ही खतरा सामने आता है जब विज्ञान के कुछ अनुयायी इसके सिद्धांतों पर आँख मूँद कर विश्वास करने लग जाते हैं तथा दूसरे विचारों की तरफ असहिष्णु हो जाते हैं। विज्ञान की अद्भुत उपलब्धियों को देख कर, धर्म का विज्ञान द्वारा विस्थापित होना आश्चर्य की बात नहीं लगती है। आदमी को चाँद पर पहुँचाने की सामर्थ्य से कौन प्रभावित नहीं होगा? फिर भी यह सच है कि अगर, उदाहरण के लिए,

हम एक परमाणु वैज्ञानिक के पास जाएँ और पूछें, मैं एक नैतिक दुविधा से गुजर रहा हूँ, क्या आप बता सकते हैं कि मुझे क्या करना चाहिए, तो वह केवल अपना सिर हिला देगा और हमें एक जवाब के लिए कहीं और देखने का सुझाव देगा। सामान्य रूप से, वैज्ञानिक इस संबंध में एक वकील से किसी बेहतर स्थिति में नहीं है। विज्ञान और कानून, दोनों ही हमें अपने कार्यों के सम्भावित परिणामों की भविष्यवाणी करने में मदद कर सकते हैं, किन्तु दोनों में से कोई भी हमें यह नहीं बता सकता कि हम नैतिक रूप से कैसे कार्य करें। इसके अलावा, हमें वैज्ञानिक अनुसन्धान की खुद की सीमाओं को पहचानने की जरूरत है। उदाहरण के लिए, हालाँकि हमें सदियों से मानव की चेतना के बारे में पता है, और यह पूरे इतिहास में जांच का विषय रही है, वैज्ञानिकों के सबसे अच्छे प्रयासों के बावजूद, वे अभी भी यह नहीं समझ सके हैं कि वास्तव में यह क्या है, यह क्यों मौजूद है, यह कैसे कार्य करती है और इसकी मूलभूत प्रकृति क्या है। न तो विज्ञान हमें यह बता सकता है कि चेतना का मूलभूत कारण क्या है, न ही यह कि इसका प्रभाव क्या है। निश्चय ही चेतना ऐसे तत्वों के वर्ग में आती है जिसका कोई रूप, द्रव्य, या रंग नहीं है। यह किसी बाहरी माध्यम से जांच करने के लायक नहीं हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि इसका अस्तित्व नहीं है, सिर्फ इतना है कि विज्ञान इसे ढूंढने में असफल रहा है।

[15]

तब क्या इसलिए कि वैज्ञानिक जांच नाकाम रही है, हमें इसका परित्याग कर देना चाहिए? बिलकुल नहीं। न ही मेरा सुझाव समृद्धि के लक्ष्य को नकारने का है। हमारी प्रकृति ही ऐसी है कि हमारे शारीरिक एवं भौतिक अनुभव हमारे जीवन में अहम भूमिका निभाते हैं। स्पष्ट रूप से विज्ञान एवम तकनीकी उपलब्धियां हमारी बेहतर एवं आरामदायक अस्तित्व की कामना को दर्शाती हैं। यह बहुत अच्छा है। कौन आधुनिक चिकित्सा की प्रगति की सराहना करने से स्वयं को रोक सकता है?

[16]

इसके साथ ही, मैं सोचता हूँ यह निश्चित रूप से सत्य है कि पारंपरिक ग्रामीण समुदायों के सदस्यों के पास आधुनिक शहरों में बसे लोगों की तुलना में सद्भाव और शांति का अधिक आनंद है। उदाहरण के लिए, उत्तरी भारत के स्पीति क्षेत्र में स्थानीय लोगों में यह रिवाज है कि वे बाहर जाने के समय अपने घर पर ताला नहीं लगाते । ऐसी आशा की जाती है कि घर को खाली पाने वाले आगंतुक मेजबान का इंतजार करते समय घर के अंदर जा कर कुछ खा और पी सकते हैं। पहले के दिनों तिब्बत में भी ऐसा पाया जाता था। ऐसा नहीं कि ऐसे स्थानों पर अपराध की घटनाएं नहीं होती थी। तिब्बत के अतिक्रमण के पहले ऐसी घटनाएं कभी कभी होती थी, और जब ऐसा होता था, लोग आश्चर्यचकित होते थे। ऐसी घटनाएं

विरले और असामान्य होती थी। इसके विपरीत, कुछ आधुनिक शहरों में अगर एक दिन भी हत्या न हो तो यह असाधारण बात होती है। शहरीकरण के साथ आपसी झगड़े बढ़े हैं।

[17]

हमें पुरानी जीवन शैली की ज्यादा प्रशंसा करने में सावधानी बरतनी चाहिए। अविकसित गाँवों में रहने वाले समुदायों के बीच गहरे सहयोग का कारण सद्भावना से ज्यादा उनकी आवश्यकता थी। लोगों को यह मालूम था कि पारस्परिक सहयोग के अभाव में जीवन ज्यादा कष्टप्रद होगा। इसके साथ, जिसे हम संतुष्टि समझते हैं शायद उसका मुख्य कारण अज्ञानता हो। जीवन यापन का कोई दूसरा रास्ता भी है, यह लोग शायद न समझ सकते हों और न ही शायद इसकी कोई कल्पना ही कर सकते हों। अगर वो ऐसा कर पाते काफी सम्भव था तो कि वे ऐसे जीवन को उत्साह से अपनाते। इसलिए चुनौती हमारे सामने यह है कि हम ऐसे उपाय ढूंढ़ें जिनसे हम दुनिया की इस सहस्राब्दि के आरम्भ के भौतिक विकास का पूरा फायदा उठाते हुए उसी सौहार्द्रता एवं शांति का आनंद ले सकें, जो पारम्परिक समाज के लोगों को उपलब्ध है। कुछ और कहने का अर्थ तो यही होगा कि अविकसित समाज में रहने वाले लोग अपने जीवन स्तर को सुधारने की कोई कोशिश नहीं करें। उदाहरण के लिए, मैं एकदम निश्चित मत हूँ कि तिब्बत की खानाबदोश जाति में ज्यादातर लोग जाड़ों के लिए आधुनिक गरम कपड़े, खाना बनाने के लिए बिना धुंएँ वाला ईंधन, आधुनिक दवाइयाँ, एवं अपने तम्बू में उठा ले जाने वाले टेलीविजन को पा कर खुश होंगे। मैं तो बिलकुल ऐसा नहीं चाहूंगा के वे इन सुविधाओं से वंचित रह जाएँ।

[18]

आधुनिक समाज, अपनी सारी सुविधाओं एवं दोषों के साथ, अनगिनत कारणों एवं परिस्थितियों की वजह से प्रगट हुआ है। ऐसा सोचना गलत होगा कि सिर्फ भौतिक विकास को त्याग कर हम अपनी सभी समस्याओं का समाधान कर लेंगे। ऐसा करना उसके मूलभूत कारणों को अनदेखा करना होगा। इसके अलावा, आधुनिक दुनिया में भी बहुत कुछ ऐसा है, जिससे हम आशान्वित हो सकते हैं।

[19]

सबसे विकसित राष्ट्रों में भी अनगिनत ऐसे लोग हैं जो दूसरों के हित की चिंता में सक्रिय हैं। अपने देश में ही, मेरी जानकारी में बहुत से ऐसे लोग हैं जिनकी खुद की अवस्था बहुत ठीक नहीं होते हुए भी उन्होंने हम तिब्बत के लोगों के प्रति बड़े उपकार किये हैं। उदाहरण के तौर पर, हमारे बच्चों को उन भारतीय शिक्षकों की निःस्वार्थ सेवा से बहुत फायदा हुआ है, जिनमें से कई को बच्चों को पढ़ाने के लिए काफी कठिन अवस्था में अपने परिवार से दूर रहना पड़ा है। बड़े पैमाने पर, हम विश्व में मौलिक मानवाधिकारों की बढ़ती सराहना को भी

ध्यान में रख सकते हैं। मेरी धारणा है कि यह एक बहुत अच्छी प्रगति है। जिस तरह से अंतर्राष्ट्रीय समाज प्राकृतिक आपदाओं के उत्तर में शीघ्रातिशीघ्र पीड़ित लोगों की मदद करता है वह इस आधुनिक विश्व के लिए एक प्रशंसनीय बात है। ऐसे ही इस बात की बढ़ती हुई समझदारी कि हम अपने प्राकृतिक पर्यावरण के साथ बिना इसके दुष्परिणाम भुगते लगातार ज्यादती नहीं कर सकते हैं, एक आशा का कारण है। इसके अलावा, मेरा मानना है कि बढ़ते हुए संचार की वजह से शायद लोगों में मानवों की विविधता को स्वीकार करने की क्षमता में वृद्धि हुई है, और सम्पूर्ण विश्व में आज साक्षरता एवं शिक्षा के मानक पहले से कहीं ज्यादा है। इन सभी सकारात्मक विकास के कार्यों को मैं हम मनुष्यों की क्षमता के रूप में देखता हूँ।

[20]

हाल में मुझे इंग्लैंड में रानी माँ (रानी एलिजाबेथ) से मिलने का मौका मिला। वह मेरे पूरे जीवन में एक परिचित व्यक्ति रहीं हैं, इसलिए उनसे मिल कर मैं बहुत खुश हुआ। लेकिन सबसे उत्साहित करने वाली बात यह लगी कि, एक ऐसी स्त्री, जिनकी आयु बीसवीं शताब्दी के ही बराबर है, के विचार में आजकल के लोग दूसरों के बारे में काफी जागरूक हैं, बनिस्बत उस समय के जब वह युवती थीं। उन्होंने कहा कि उन दिनों लोग ज्यादातर अपने ही राष्ट्रों की भलाई की सोचते थे, जबकि वर्तमान में लोग अन्य देशों में रहने वाले लोगों के हितों के बारे में काफी ज्यादा चिंता करने लगे हैं। जब मैंने उनसे पूछा कि क्या वह भविष्य को लेकर आशावादी हैं, उन्होंने बिना हिचक के हाँ में उत्तर दिया।

[21]

अवश्य ही यह वास्तविकता है कि वर्तमान समाज में हम नितांत नकारात्मक प्रवाह की तरफ संकेत कर सकते हैं। इसमें संदेह का कोई कारण नहीं है कि हत्या, हिंसा,एवं बलात्कार की घटनाओं की संख्या में हर साल बढ़ोत्तरी हो रही है। इसके अतिरिक्त, हम निरन्तर समाज एवम् परिवार में हो रहे अत्याचार, सामाजिक शोषण, युवा लोगों में बढती मदिरा एवं अन्य मादक द्रव्यों की लत, एवं अधिकाधिक संख्या में वैवाहिक सम्बन्धों के संबंध विच्छेद के कारण बच्चों पर हो रहे दुष्प्रभावों के बारे में सुनते हैं । यहाँ तक कि हमारा छोटा सा शरणार्थी समुदाय भी इससे नहीं बच सका है। उदाहरण के लिए जबकि पूर्व में तिब्बत में आत्महत्या की घटनाएँ नहीं के बराबर थीं, कुछ समय से हमारे शरणार्थी समाज में भी एक दो आत्महत्या की दुखद घटनाएँ हुई हैं। ऐसे ही जबकि पिछली पीढ़ी में तिब्बत के युवकों के बीच नशे की लत नहीं थी, अब कुछ नशे की घटनाएँ भी देखने को मिलती हैं, जो अधिकतर उन स्थानों पर आधुनिक शहरी जीवन के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुई हैं।

[22]

फिर भी, रोग, वृद्धावस्था, एवं मृत्यु के कष्ट को छोड़कर इनमें से कोई भी समस्या स्वभाव से अपरिहार्य नहीं है। न ही इनका कारण ज्ञान का अभाव है। जब हम इन पर ध्यानपूर्वक विचार करते हैं तो पाते हैं कि ये सभी नैतिकता की समस्याएं हैं। इनमें से हर एक--सही या गलत क्या है, सकारात्मक या नकारात्मक क्या है, तथा उचित या अनुचित क्या है--की समझ को दर्शाती हैं। लेकिन इसके आगे हम एक मूलभूत तथ्य की तरफ इशारा कर सकते हैं जो है एक ऐसी चीज़ की अवहेलना जिसे मैं आंतरिक आयाम कहता हूँ।

[23]

मेरा इससे क्या तात्पर्य है? मेरी समझ के अनुसार भौतिक सामग्रियों पर बहुत ज्यादा ध्यान देना हमारी इस प्रच्छन्न धारणा को दर्शाता है कि हम जो खरीद सकते हैं, वह अपने आप हमें ऐसी सारी संतुष्टि दे सकता है जिसकी हमें आवश्यकता है। लेकिन वास्तव में स्वभावानुसार भौतिक वस्तुएँ हमें उतना ही सुख प्रदान कर सकती हैं, जितना इंद्रियों से ग्राह्य है। अगर ऐसा होता कि हम मनुष्य पशुओं से भिन्न नहीं हैं तो फिर यह ठीक था। लेकिन हमारी प्रजाति की जटिलता को लेकर, विशेषकर इस सत्य को देखने से कि हमारे अंदर विचार एवं भावना के साथ साथ कल्पना एवम विश्लेषण करने की भी क्षमता है, यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी आवश्यकताएँ इन्द्रिय सीमा से कहीं परे है। जिन लोगों की मौलिक आवश्यकताएँ पूरी हो चुकी हैं, उनमें व्याप्त तनाव, चिंता, व्याकुलता, अनिश्चितता, एवं निराशा की बहुलता इसका स्पष्ट संकेत है। हमारी दोनों प्रकार की समस्याएँ, जिन्हें हम बाहर से अनुभव करते हैं जैसे युद्ध, अपराध, एवं हिंसा एवं वे जिन्हें हम आंतरिक रूप से भुगतते हैं जैसे हमारे भावात्मक एवं मानसिक दुःख, उन सभी का समाधान तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक हम इस भूल को नहीं सुधार लेते हैं। यही कारण है कि पिछले सौ या उससे भी अधिक वर्षों की महान क्रांतियाँ-- प्रजातंत्र, उदारवाद, समाजवाद --सभी अद्भुत विचारों के बावजूद विश्वयापी कल्याण प्रदान करने में असफल रही हैं, जैसी कि उनसे आशा की जाती थी। निश्चय ही एक नवीन क्रान्ति की आवश्यकता है। लेकिन वह क्रांति राजनैतिक-आर्थिक नहीं होगी, यहाँ तक कि प्रौद्योगिकीय भी नहीं होगी। पिछली सदी में हमें इसका काफी अनुभव हुआ कि मनुष्य की प्रगति के लिए पूर्णतः भौतिक मार्ग पर्याप्त नहीं है। मैं आपके समक्ष एक आध्यात्मिक क्रांति का प्रस्ताव रखना चाहता हूँ।

[24]

मनन योग्य प्रश्न

१. लेखक का उन लोगों के बारे में क्या राय है जिनके पास भौतिक समृद्धि है तथा जो आराम वाली ज़िन्दगी जीते दिखाई देते हैं?

२ लेखक की धारणा में धर्म एवं नैतिकता में क्या सम्बन्ध है?

३. लेखक की धारणा में ‘‘नैतिक समस्या’’ का क्या फल होता है?

अध्याय २ - न जादू न रहस्य

तो क्या आध्यात्मिक क्रान्ति की बात कर आखिर मैं एक अपनी समस्याओं के धार्मिक समाधान की बात कर रहा हूँ? एक ऐसा मनुष्य जिसकी आयु सत्तर साल के पास है, मैंने इतना अनुभव अवश्य प्राप्त कर लिया है कि मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि भगवान बुद्ध कि शिक्षा मनुष्य के लिए प्रासंगिक और उपयोगी है। अगर कोई व्यक्ति इस शिक्षा को व्यवहार में लाता है तो यह निश्चित है कि ना सिर्फ वह अपना कल्याण करेगा बल्कि दूसरे लोग भी इससे लाभान्वित होंगे। दुनिया भर के विभिन्न लोगों से मिलकर मुझे यह समझने में सहायता मिली है कि दुनिया में कई धर्म हैं, कई संस्कृतियां हैं , जो लोगों को एक सकारात्मक एवम् संतोषजनक जीवनयापन करने की दिशा में ले जाने के लिये मेरी संस्कृति से किसी प्रकार से कम नहीं है। इसके अतिरिक्त मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि मनुष्य किसी धर्म में आस्था रखता है या नहीं इससे ज्यादा फर्क नहीं पड़ता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह अच्छा मनुष्य हो।

[1]

मैं यह बात इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहता हूँ कि इस धरती के छह सौ करोड़ लोग भले इस या उस धर्म को मानने का दावा करते हों, किन्तु धर्म का लोगों की जिन्दगी पर प्रभाव काफी कम है, खास कर के विकसित राष्ट्रों में । मुझे सन्देह है कि इस दुनिया में शायद एक सौ करोड़ भी ऐसे हों जिन्हें मैं समर्पित धार्मिक अनुष्ठाता कह सकूं, जो अपने दैनिक जीवन में धर्म के सिद्धान्तों एवम् नियमों का पालन निष्ठा पूर्वक करते हों। इस अर्थ में बाकी के लोग धर्म का पालन नहीं करने वाले लोगों में से हैं । जो समर्पित अनुष्ठाता हैं, वे बहुत से धर्मों का पालन करते हैं। इससे यह बात साफ होती है कि हमारी विविधता के कारण कोई एक धर्म सारे मनुष्यों के लिये पर्याप्त नहीं हो सकता है। हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि मनुष्य बिना किसी धर्म का सहारा लिये भी अपना जीवनयापन भली भांति कर सकता है।

[2]

ऐसी बातें एक धार्मिक व्यक्ति के मुख से अटपटी लग सकती हैं, लेकिन दलाई लामा से प्रथम मैं एक तिब्बती हूं, एवम् तिब्बती होने के पूर्व मैं एक मनुष्य हूँ । एक तरफ दलाई लामा के रूप में मेरे ऊपर तिब्बत के लोगों के लिये खास जिम्मेदारी है, दूसरी ओर एक भिक्षु के रूप में सभी धर्मों के बीच में सद्भावना बढ़ाने की भी मेरी विशेष जिम्मेदारी है। इसके साथ एक मनुष्य होने के नाते भी मुझ पर पूरे मानव परिवार की एक और भी बड़ी जिम्मेदारी है, जो वास्तव में हम सभी का उत्तरदायित्व है। क्योंकि बहुसंख्यक लोग किसी

धर्म का पालन नहीं करते हैं, मेरा उद्देश्य एक ऐसा रास्ता ढूंढने का है, जिससे मैं किसी धार्मिक आस्था का सहारा लिए बिना सारी मानवता का कल्याण कर सकूँ ।

[3]

वास्तव में मेरा विश्वास है कि अगर हम लोग विश्व के प्रमुख धर्मों को बड़े नजरिये से देखें तो हम पायेंगे कि उन सभी - बौद्ध, ईसाई, हिन्दू, इस्लाम, यहूदी, सिख, पारसी एवं अन्य - का लक्ष्य मनुष्य को एक सतत सुख की प्राप्ति करने में सहायता करना है। उसके साथ मेरे विचार से उनमें से हर एक इस लक्ष्य को प्राप्त कराने में सक्षम है । इन परिस्थितियों में हम यह कह सकते हैं कि धर्मों की (जिन सबमें एक ही आधारभूत मूल्य हैं) विविधता अभीष्ट एवं उपयोगी है।

[4]

ऐसा नहीं है कि मैं हमेशा ऐसा ही सोचता था। जब मैं छोटा था और तिब्बत में रहता था, मैं अपने मन में सोचता था कि बौद्ध धर्म सबसे उत्तम मार्ग है। मैं खुद से कहता था कि कितना सुंदर होगा अगर पूरा विश्व धर्मान्तरित हो कर बौद्ध धर्म का पालन करने लगे। लेकिन यह मेरी अज्ञानता थी। हम तिब्बती लोगों ने अवश्य ही अन्य धर्मों के बारे में सुना था। लेकिन उनके बारे में हम जो भी थोड़ा बहुत जानते थे, उसका आधार बौद्ध धर्म के ही तिब्बती भाषा में अनूदित द्वितीय स्रोत थे। स्वाभाविक रूप से उनका ध्यान उन तथ्यों पर था, जिन पर बौद्ध दृष्टिकोण से वाद विवाद संभव था। ऐसा नहीं था कि बौद्ध विद्वान जानबूझकर कर अपने पूर्वपक्षों का उपहास करना चाहते थे। वास्तव में इससे यह बात प्रदर्शित होती है कि उनके लिये उन तथ्यों को सम्बोधित करने की आवश्यकता नहीं थी, जिन पर उनके बीच में कोई विवाद नहीं था क्योंकि जिन शास्त्रों पर चर्चा होती थी वे भारत में, जहाँ उन की रचना हुयी थी, पूर्ण रूप से उपलब्ध थे। दुर्भाग्य से तिब्बत में यह बात नहीं थी। अन्य शास्त्रों के अनुवाद तिब्बती भाषा में उपलब्ध नहीं थे।

[5]

जैसे जैसे मैं बड़ा हुआ, धीरे धीरे मैं अन्य धर्मों के बारे में जानने लगा। खासकर के प्रवास में जाने के बाद मैं ऐसे लोगों से मिलने लगा, जो अपना जीवन विभिन्न धर्मों को समर्पित कर- कुछ लोग प्रार्थना करते हुए, कुछ ध्यान करते हुए, कुछ लोग औरों की सेवा करते हुए, अपनी अपनी परम्पराओं का गम्भीर अनुभव प्राप्त कर चुके थे। ऐसे व्यक्तिगत संपर्क से मुझे यह सहायता मिली कि मैं सारी प्रमुख परम्पराओं के वृहत मूल्यों से अवगत हुआ जिससे मुझमें उनके लिये गहरे आदर की भावना पैदा हुई। मेरे लिये बौद्ध धर्म सबसे महत्वपूर्ण मार्ग है। यह मेरे व्यक्तित्व से मेल खाता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि

मैं इसे सब के लिए सर्वोत्तम मार्ग मानता हूँ, उससे भी ज्यादा न ही मैं यह सोचता हूँ कि हर व्यक्ति को किसी न किसी धर्म का अनुयायी होना चाहिए।

[6]

अवश्य ही एक तिब्बती एवं एक भिक्षु के रूप में मेरा पालन पोषण, मेरी शिक्षा, बौद्ध धर्म के सिद्धांतों एवं नियमों तथा अनुशीलन के अनुसार हुई है। इसलिये मैं इस बात को नकार नहीं सकता हूँ कि मेरी सोच पर भगवान बुद्ध के अनुयायी होने का प्रभाव नहीं पड़ा है। फिर भी इस पुस्तक में मेरा प्रयास यह है कि मैं अपने धर्म की औपचारिक सीमा के बाहर जा कर लोगों तक पहुंचूँ। मैं यह दिखाना चाहता हूँ कि दुनिया में वाकई ऐसे वैश्वीय नैतिक सिद्धांत हैं, जो हर मनुष्य को वही सुख देने में सफल हो सकते हैं, जिनकी हम सभी कामना करते हैं। कुछ लोग यह सन्देह कर सकते है कि मैं परोक्ष रुप से बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रयास कर रहा हूँ । जहाँ यह मेरे लिए नकारना मुश्किल है, लेकिन यह सत्य नहीं है।

[7]

वास्तव में मेरा विश्वास है कि धर्म एवं आध्यात्मिकता में गंभीर अंतर है। मेरा धर्म के बारे में यह सोचना है कि इसका सम्बन्ध एक या दूसरे धार्मिक परंपरा के मुक्ति के दावे में विश्वास से है, जो किसी रूप में स्वर्ग या निर्वाण जैसी अभौतिक अथवा अलौकिक तथ्यों को स्वीकार करता है तथा इसके साथ में जुड़ी हुई हैं धार्मिक शिक्षा, रूढ़ियाँ, रीतियां, प्रार्थनाएँ इत्यादि। मेरा मानना है कि आध्यात्मिकता का संबंध मैत्री, करुणा, धैर्य, सहनशीलता, क्षमाशीलता, संतुष्टि, उत्तरदायित्व की भावना, एवं सौहार्द्रता की भावना जैसे मानवीय गुणों से है, जिनसे स्वयं के साथ अन्य लोगों को भी सुख की प्राप्ति होती है। रीतियां, प्रार्थनाएं, निर्वाण एवं मुक्ति की बातें धर्म विशेष में विश्वास से सम्बंधित हैं, परन्तु मैत्री एवं करुणा जैसे आंतरिक गुणों का धर्म से सम्बद्ध होने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए इसका कोई कारण नहीं है कि व्यक्ति इन गुणों को उच्च स्तर तक बिना किसी धार्मिक या अलौकिक विश्वास का सहारा लिये अपने अंदर बढ़ाने का प्रयास नहीं करे। इसलिए मैं कभी कभी कहता हूँ कि धर्म एक ऐसी चीज है, जिसके बिना शायद हम अपना काम चला सकते है। लेकिन इन मूल आध्यात्मिक गुणों के बिना नहीं।

[8]

जो किसी धर्म के अनुयायी हैं, स्वाभाविक रूप से ऐसा कह सकते हैं कि ये गुण धर्म को सच्चे मन से पालन करने का फल हैं और इसलिए इन आंतरिक गुणों को विकसित करना धर्म से ही संभव है, जिसे हम आध्यात्मिक प्रयास कह सकते हैं। लेकिन हमें इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। धर्म के अवलम्बी होने पर आध्यात्मिक अनुशीलन आवश्यक है। फिर भी ऐसा लगता है कि धर्म के अनुयायियों एवं धर्म के अविश्वासी, दोनों में इस बात

को लेकर असहमति रहती है कि वास्तव में इसका मतलब क्या है। जिन गुणों की व्याख्या मैंने "आध्यात्मिक" रूप से की उनको संयुक्त रुप से परिलक्षित कर कुछ हद तक अन्य लोगों के हित की चिन्ता करने को कह सकता हूँ । तिब्बती भाषा में हम इसे शेन फेन की सेम कहते हैं, जिसका अर्थ है दूसरों का कल्याण करने की कामना । जब हम इनके बारे में सोचते हैं तो पाते हैं कि इन पूर्वोक्त नैतिक गुणों की परिभाषा में परोक्ष रूप से दूसरों के कल्याण की भावना विद्यमान है। इससे भी ज्यादा जो व्यक्ति करुणामय, स्नेहशील, धैर्यवान, सहनशील, क्षमाशील आदि हैं वे कुछ हद तक अपने कार्य का औरों पर होने वाले प्रभाव को देखते हुए अपने व्यवहार की व्यवस्था करते हैं। अतः आध्यात्मिक अनुशीलन की परिभाषा एक ओर यह होती है कि हमारे कार्य औरों के हित को ध्यान में रखते हुए हों एवम दूसरी ओर यह हमें प्रतिबद्ध करता है कि हम अपने में वह परिवर्तन लायें जिससे ऐसा करना हमारे लिये सहज हो जाए। आध्यात्मिक अनुशीलन की परिभाषा अन्य किसी प्रकार से करना व्यर्थ है।

[9]

इस प्रकार मेरी आध्यात्मिक क्रांति का आह्वान धार्मिक क्रांति का आह्वान नहीं है। ना ही यह किसी पारलौकिक जीवन के बारे में है और कोई जादू या रहस्य तो कतई नहीं है। बल्कि यह स्वयं के अंदर एक क्रांतिकारी परिवर्तन का आह्वान है, जो हमें सदैव स्वार्थ पूर्ण चिंतन में लिप्त रहने की आदत से दूर करे । जिन प्राणियों के वृहत समाज से हम जुड़े हुए हैं, उसके प्रति यह हमारा ध्यान मोड़ने का आह्वान है एवं अपने हित के साथ औरों के हित का भी ध्यान रखने का आह्वान है।

[10]

यहां पर पाठकगण यह आपत्ति कर सकते हैं कि चरित्र में ऐसा परिवर्तन निश्चित रूप से वांछनीय है एवं यह भी अच्छा है कि लोग अपने अंदर करुणा एवं स्नेह को विकसित करें परंतु आधुनिक विश्व की विविध एवम बड़ी समस्याओं को हल करने में आध्यात्मिक क्रांति शायद ही पर्याप्त हो। इसके अलावा यह भी तर्क दिया जा सकता है कि समस्याएं जैसे घरेलू हिंसा, नशे एवं शराब की आदत, परिवार का बिखरना आदि को समझने का उत्तम उपाय यह है कि हम उन्हें एक एक कर समझें एवं उनका निदान ढूंढें। फिर भी जब हम ऐसा देखते हैं कि ऐसी समस्याओं का समाधान इससे हो सकता है कि लोग एक दूसरे से ज्यादा स्नेह करें और अन्य जीवों के प्रति ज्यादा करुणा रखें - भले ही यह बात कितनी भी असंभव लगे - हम उन्हें आध्यात्मिक समस्या के रूप में देख सकते हैं जिनका समाधान आध्यात्मिक प्रयास से हो सकता है। इसका मतलब यह नहीं है कि हम सिर्फ आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करें और ये समस्याएं स्वतः गायब हो जायेंगी। इसके विपरीत ऐसी प्रत्येक समस्या के लिये विशेष समाधान की आवश्यकता है। लेकिन हम पाते हैं कि

आध्यात्मिक आयाम की अवहेलना करने से हम इन समस्याओं के स्थायी समाधान की आशा नहीं कर सकते हैं।

[11]

जरा विचार करें कि ऐसा क्यों है। बुरी खबर मिलना जीवन की सच्चाई है। जब भी हम अखबार उठाते हैं या टेलीवीजन अथवा रेडियो लगाते हैं, हमें अनेक दुखद खबरों का सामना करना पड़ता है। एक दिन भी ऐसा नहीं जाता है जब इस दुनिया में कहीं पर कोई ऐसी दुर्घटना न हुई हो, जिसे सभी एक मत से दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं, भले हम लोग कहीं के रहने वाले हों, भले हमारा जीवनदर्शन कोई हो, कम और ज्यादा, हम दूसरों का दुख सुनकर दुखी होते हैं।

[12]

इन घटनाओं को दो व्यापक विभागों में बांटा जा सकता है। ऐसी घटनाएं जो मुख्यतः प्राकृतिक कारणों से होती हैं - भूकम्प, सूखा, बाढ़ इत्यादि, एवं ऐसी जो मानव कृत हैं। युद्ध, अपराध, हर तरह की हिंसा, भ्रष्टाचार, गरीबी, धोखा, एवं सामाजिक, राजनैतिक, एवं आर्थिक अन्याय सभी नकारात्मक मानवीय व्यवहार का परिणाम हैं। और कौन इन दुष्कर्मों का उत्तरदायी है? हम हैं। राजा, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, एवं राजनेताओं से लेकर प्रशासन के लोग, वैज्ञानिक, चिकित्सक, वकील, अकादमिक, छात्र, पुजारी, भिक्षुणियां एवं मेरे जैसे भिक्षु से लेकर उद्योगपति, कलाकार, दुकानदार, तकनीकी कर्मचारी, बढ़ई, मजदूर, और बेरोजगार, कोई ऐसा वर्ग अथवा समाज का हिस्सा नहीं है, जिसका इन प्रतिदिन की बुरी खबरों में योगदान न हो।

[13]

सौभाग्य से प्राकृतिक विपदाओं से भिन्न, जिन पर हमारा बहुत कम अथवा कोई नियंत्रण नहीं है, मानव कृत समस्याएं, जो वास्तव में नैतिकता की समस्याएं हैं, सबका समाधान संभव है। वास्तव में यह तथ्य कि समाज के हर वर्ग एवं स्तर के तमाम लोग इसका समाधान ढूंढने की दिशा में कार्यरत हैं, मानव की प्रवृत्ति को दर्शाता है। ऐसे तमाम लोग हैं, जो न्याय के पक्षधर संविधान को बनाने के लिये राजनीतिक पार्टियों में हिस्सा लेते हैं, ऐसे लोग हैं, जो न्याय के लिए वकील बनते है, ऐसे लोग हैं , जो ऐसी संस्थाओं में हिस्सा लेते हैं जो गरीबी दूर करने के लिए काम करती हैं, ऐसे लोग हैं जो पैसे के लिए अथवा बिना पैसे के लिए पीड़ित लोगों के हित के लिये काम करते हैं। वास्तव में, हम सभी अपनी समझ और अपने तरीकों के अनुसार इस विश्व को, जहाँ हम रहते हैं, पहले से बेहतर बनाने का प्रयास करते हैं।

[14]

दुर्भाग्य से हम पाते हैं कि भले ही हमारी न्यायिक व्यवस्था कितनी ही अच्छी हो और भले ही बाहरी विषयों पर विकसित नियंत्रण के कितने भी साधन क्यों न हों, अपने आप यह सब सभी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते। देखिये कि आजकल हमारे पुलिसकर्मियों के पास ऐसे आधुनिक यंत्र हैं जिनकी पचास साल पहले हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इनके पास निगरानी के ऐसे तकनीकी साधन है, जिनसे इन्हें वह सब दिख जाता है, जो पहले दृष्टिगोचर नहीं होता था। इनके पास डीएनए मिलाने की क्षमता है, परीक्षण की प्रयोगशालाएं हैं, सूंघने वाले कुत्ते हैं, एवम् अवश्य ही इनके साथ काफी प्रशिक्षित कर्मचारी हैं। लेकिन इन के साथ साथ अपराध करने के तरीके भी इतने ही विकसित हो गए हैं कि हम किसी बेहतर परिस्थिति में नहीं हैं। जहां पर नैतिक नियंत्रण का अभाव हो, वहाँ पर बढ़ते हुए अपराध जैसी समस्या के समाधान की कोई आशा नहीं है। वास्तव में हम पाते हैं कि ऐसे आंतरिक अनुशासन के बिना जिन साधनों का प्रयोग हम इन समस्याओं के समाधान के लिए करते हैं, वही समाधान हमारी समस्या का कारण बन जाते हैं। अपराधियों एवं पुलिस दोनों के निरंतर विकसित हो रहे साधन एक दोषपूर्ण चक्र की तरह एक दूसरे को बढ़ावा देते हैं।

[15]

फिर आध्यात्मिकता एवं नैतिक आचार में क्या संबंध है? क्योंकि स्नेह, करुणा एवं इसी तरह के गुण अपनी परिभाषा के अनुसार दूसरें के हित की चिंता करने की कुछ स्तर तक अपेक्षा करते हैं एवम् इन सब में नैतिक संयम अपेक्षित है। हमलोग विनाशकारी प्रवृत्तियों एवं इच्छा पर नियंत्रण किये बिना स्नेहशील एवं करुणामय नहीं हो सकते हैं।

[16]

जहां तक नैतिक आचरण की नींव का प्रश्न है, ऐसा माना जा सकता है कम से कम यहां मैं धर्म के मार्ग की वकालत करता हूँ। सच है कि हर प्रमुख धार्मिक परम्परा में एक विकसित नैतिक पद्धति विद्यमान है। फिर भी हमारी सही और गलत की समझ को धर्म से जोड़ने की समस्या यह है कि हमें पूछना पड़ता है, 'किस धर्म से जोड़ें?' किस धर्म के पास एक संपूर्ण नैतिकता की पद्धति है, जो आसानी से उपलब्ध है एवं जो सबसे ज्यादा स्वीकार्य है? यह एक ऐसा विवाद है जो कभी खत्म नहीं हो सकता है। इसके अलावा ऐसा करना इस बात को अनदेखा करना होगा कि ऐसे बहुत सारे लोग हैं जो धर्म को अस्वीकार करते हैं सोच समझ कर दृढ निश्चय से, न कि इसलिए कि उनके मन में मनुष्य के अस्तिव के बारे में गूढ़ प्रश्न की परवाह नहीं है। ऐसा मानना गलत होगा कि ऐसे लोगों में सही और गलत एवम नैतिक रूप से क्या उचित है की समझ नहीं है, सिर्फ इसलिए कि कुछ धर्मविरोधी लोग अनैतिक हैं । इसके अलावा धर्म में विश्वास रखना नैतिकता की कोई गारंटी नहीं है। जब

हम अपनी प्रजाति का इतिहास देखते हैं, हम अपने बीच बहुत बड़े विनाशकारी लोगों में ऐसे हैं जिन्होंने अपने साथी मनुष्यों के साथ हिंसक, क्रूर एवम विनाशकारी व्यवहार किया। इनमें से कई ऐसे रहे हैं जिन्होंने अक्सर काफी जोर से धर्म में अपना विश्वास जताया था। धर्म मूलभूत नैतिक सिद्धांतों की स्थापना में मदद कर सकता है। लेकिन हमलोग नैतिकता एवं सदाचार की बात बिना धर्म का सहारा लिये कर सकते हैं।

[17]

पुनः इस पर आपत्ति हो सकती है कि अगर हमलोग धर्म को नैतिकता का स्रोत नहीं मानते तो फिर हमें यह स्वीकार करना होगा कि क्या सही है क्या गलत है, क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या नैतिक रूप से उचित है एवम क्या अनुचित है, क्या सदाचार है एवम क्या दुराचार है, की समझ परिस्थितियों के अनुसार भिन्न हो सकती है एवं यहाँ तक कि भिन्न व्यक्तियों के लिए भी भिन्न हो सकती है। लेकिन यहां पर मैं कहना चाहूँगा कि किसी को ऐसा नहीं समझना चाहिए कि कभी ऐसा संभव हो पाएगा कि ऐसे कानून या नियमों की व्यवस्था की जा सके जिससे हर नैतिक दुविधा का उत्तर मिल सके, चाहे हम धर्म को नैतिकता का आधार क्यों न मान लें। मनुष्य के समृद्ध एवम् विविध अनुभव को समझने के लिये ऐसे सूत्रबद्ध उपाय की कभी कल्पना नहीं की जा सकती है। इससे ऐसे तर्क को भी सहारा मिलेगा कि हमारा उत्तरदायित्व सिर्फ कानूनों का शब्दशः पालन करने का है एवं हम अपने आचरण के लिये उत्तरदायी नहीं हैं।

[18]

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे सिद्धांतों को समझाना व्यर्थ है, जो नैतिक रूप से बाध्यकारी हों। इसके विपरीत अगर हमें अपनी समस्याओं के समाधान की कोई आशा है तो यह आवश्यक है कि हम ऐसा करने का मार्ग ढूंढें। हमें कोई ऐसा उपाय अवश्य ढूंढना चाहिए जिससे हम, उदाहरण स्वरूप, राजनैतिक सुधार के लिए आतंकवाद एवं महात्मा गांधी के शांतिपूर्वक विरोध के सिद्धांत के बीच उचित-अनुचित का निर्णय कर सकें। हमें इसके लिये सक्षम होना चाहिए कि दूसरों के प्रति हिंसा का प्रयोग गलत है। फिर भी हमें कोई ऐसा रास्ता ढूंढना चाहिए जो एक तरफ असभ्य तानाशाही से एवं दूसरी ओर तुच्छ सापेक्षतावाद की अतिवादी सीमाओं से बचे।

[19]

मेरा अपना विचार जो न तो पूर्णतया धार्मिक विश्वास पर आधारित है और न ही कोई मौलिक दर्शन है बल्कि जो सामान्य व्यवहारिक ज्ञान पर आधारित है, वह यह है कि ऐसे बाध्यकारी नैतिक सिद्धांतों की स्थापना तब संभव है जब हम अपने विचारों की शुरूआत इस अवधारणा से करते हैं कि हम सभी सुख चाहते हैं और दुख से दूर रहना चाहते हैं।

हमारे पास सही एवं गलत के बीच भेद करने का कोई साधन नहीं है अगर हम अन्य प्राणियों की भावना एवम कष्ट के बारे में न सोचें। इस कारण से और इस वजह से भी, जैसा कि हमलोग देखेंगे, कि परम सत्य के अस्तित्व को धर्म के सन्दर्भ से बाहर समझना मुश्किल है। हम नैतिक आचरण में प्रवृत्त इसलिए नहीं होते हैं, क्योंकि यह अपने आप में ही सही है बल्कि इसलिए कि हम लोगों की तरह सभी सुख की कामना करते है एवं पीड़ा से बचना चाहते हैं। क्योंकि यह एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है जो सबमें विद्यमान होती है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयास करने का अधिकार है। इस प्रकार से मेरा सुझाव है कि एक तथ्य जो यह निश्चित करता है कि कोई आचरण नैतिक है या नहीं वह तथ्य यह है कि इस आचरण का अन्य लोगों के सुख के अनुभव अथवा आकांक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है। ऐसा आचरण जो अन्य लोगों के सुख के अनुभव अथवा आकांक्षा की क्षति करता हैं अथवा हिंसा करता है, सम्भवतः अनैतिक है।

[20]

मैं यह सम्भवतः इसलिए कहता हूँ क्योंकि यद्यपि हमारे आचरण का परिणाम महत्वपूर्ण है परंतु अन्य विचारणीय तथ्य हैं जैसे समुत्थानचित्त* एवं आचरण की प्रकृति। हम अपनी ऐसी अनेक हरकतों को याद कर सकते हैं जिससे दूसरों को परेशानी हुई हो यद्यपि हमारी मंशा बिलकुल ऐसी नहीं थी । इसी तरह से ऐसे व्यवहारों के बारे में सोचना मुश्किल नहीं है जो भले देखने में कठोर एवं आक्रामक लगें एवं उनसे संभवतः चोट भी लगे लेकिन आगे चल कर औरों की सुख प्राप्ति में सहायक हुए हों। बच्चों को अनुशासित करना अक्सर इस श्रेणी में आता है। दूसरी तरफ हमारा कोई व्यवहार जो देखने में स्नेहशील लगे परन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं कि वह व्यवहार नैतिक एवं सकारात्मक है यदि हमारी मंशा अर्थात समुत्थानचित्त स्वार्थपूर्ण हो। इसके विपरीत उदहारण के लिए अगर हमारी मंशा अर्थात समुत्थानचित्त किसी को गुमराह करने का हो, तो फिर दया दिखाने का नाटक करना बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है। इसमें भले ही बल का प्रयोग न हुआ हो, ऐसा आचरण निश्चित रूप से हिंसक है। यह हिंसक सिर्फ इसलिए नहीं है कि इससे अंततः अन्य व्यक्ति का नुकसान होता है, यह इसलिए भी हिंसक है क्योंकि इससे एक व्यक्ति के विश्वास एवं सच्चाई की आशा पर चोट पहुँचती है।

[21]

पुनः, ऐसे दृष्टांत की कल्पना करना कठिन नहीं है जब एक व्यक्ति सोच सकता है कि उनके व्यवहार की मंशा उत्तम एवं अन्य लोगों के हित के लिए है, लेकिन वास्तव में उसका व्यवहार बिल्कुल अनैतिक हो। यहां पर हम उन सैनिकों के बारे में सोच सकते है जो आज्ञा का पालन करते हुए गैर-सैनिक लोगों का वध बिना किसी वजह के करते हैं। इस आज्ञा पालन को उचित समझते हुए वे सैनिक ऐसा सोच सकते हैं कि उनका व्यवहार मानवता के

हित में है। फिर भी, मैंने जिस अहिंसा के सिद्धांत को प्रस्तुत किया है, उस परिभाषा के अनुसार ऐसा वध अनैतिक होगा। अतः ऐसी आज्ञाओं का पालन करना बहुत बड़ा दुष्कर्म होगा। अन्य शब्दों में हमारे व्यवहार का सारतत्व भी यह निश्चित करने में महत्वपूर्ण है कि हमारा व्यवहार नैतिक है या नहीं, क्योंकि कुछ कार्य परिभाषा के अनुसार ही गलत होते हैं।

[22]

किसी आचरण के नैतिक भाव का मूल्यांकन करने के लिए शायद सबसे महत्वपूर्ण तथ्य न तो उस आचरण का सारतत्व ना ही उसका परिणाम है। वास्तव में विरले ही हमारे आचरण के फल के लिए सिर्फ हमें उत्तरदायी ठहराया जा सकता है बल्कि हमारी मंशा की भी भूमिका है उसी तरह से जैसे कि एक नाविक अपनी नाव को तूफान से सुरक्षित रख सकता है या नहीं यह बात सिर्फ उसके प्रयास पर निर्भर नहीं करती बल्कि उसकी मंशा पर भी, भले ही वह अपने नाव को सुरक्षित स्थल तक पहुँचाने में सफल हो या नहीं हो। तिब्बती भाषा में जो शब्द किसी व्यक्ति के आचरण के नैतिक मूल्य को निर्धारित करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है वह है व्यक्ति का कुन लॉग। उसका शब्दशः अनुवाद ऐसे होता है--उपसर्ग कुन का मतलब होता है 'पूर्णरूप' से अथवा 'गहराई से', एवं लॉग का अर्थ होता है किसी चीज को खड़ा करना, उत्थित करना, अथवा जगाना। लेकिन जिस भाव से इसका यहां प्रयोग हुआ है, कुन लॉग का अभिप्राय उससे है जो हमारे आचरण को उत्प्रेरित अथवा उस दिशा में संचालित करती है – दोनों दशाओं में चाहे वह इच्छित कार्य हो अथवा जिन पर हमारा नियंत्रण नहीं है। इसलिए यह मनुष्य के पूरे हृदय एवं मन की स्थिति को दर्शाता है। जब हमारी मनःस्थिति कुशल होगी तब हमारा आचरण भी (नैतिक रूप से) कुशल होगा।

[23]

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कुन लॉग का अनुवाद संक्षेप में करना कठिन है*। अक्सर, इसका अनुवाद 'प्रेरणा' के रूप में किया जाता है, लेकिन वह इस शब्द के सम्पूर्ण अर्थ को व्यक्त नहीं करता है। शब्द 'प्रवृत्ति' इसके अर्थ के काफी निकट आता है, लेकिन वह भी तिब्बती शब्द के क्रियात्मक भाव को व्यक्त नहीं करता है। दूसरी तरफ यह उक्ति 'हृदय एवं मन की पूरी स्थिति' अनावश्यक रूप से काफी लम्बी लगती है। तर्क के आधार पर हम इसे 'मन की स्थिति' के रूप में संक्षिप्त कर सकते हैं, लेकिन यह भी चित्त के वृहत अर्थ को व्यक्त नहीं कर पायेगा जैसा इसका प्रयोग तिब्बती में होता है। 'चित्त' अथवा लो में चित्त का विचार, अथवा अभिज्ञता एवं उसके साथ भावना एवं संवेदना के भाव भी सम्मिलित हैं। यह इस समझ को दर्शाता है कि अंततः भावनाओं को हम कल्पना से अलग नहीं कर सकते हैं। यहाँ तक ऐसा माना जाता है कि किसी वस्तु का रंग जैसे गुण का ज्ञान में भी भावनात्मक आयाम है। केवल वेदना की कल्पना इसके सहयोगी ज्ञान के बिना संभव

नहीं है। इससे हम यह अनुमान करते हैं कि हम विभिन्न प्रकार की भावनाओं को पहचान सकते हैं। इसमें ऐसी भावनाएं भी हैं जो मुख्यतः सहज हैं जैसे खून देखकर विकर्षण की भावना होना एवं निर्धन होने का भय जैसे मनोभाव हैं जिनमें अधिक तर्कसंगत अंश हैं। मैं पाठक से अनुरोध करता हूँ कि वह यह बात याद रखें जब भी मैं 'मन', 'प्रेरणा', 'प्रवृति' अथवा 'मन की स्थिति' की बात करता हूँ।

[24]

इसीलिए यह ऐसा है कि सामान्य रूप से किसी क्रिया के क्षण उनके आचरण की नैतिकता के निर्धारण के लिए प्रमुख तत्व हैं व्यक्ति के दिल और दिमाग अथवा समुत्थानचित्त की सम्पूर्ण स्थिति जिसे हम आसानी से समझ सकते हैं जब हम विचार करते हैं कि हमारे आचरण पर उस समय क्या प्रभाव पड़ता है जब हम द्वेष एवं क्रोध जैसे प्रबल नकारात्मक विचार एवं मनोभावना के वश में होते हैं,उस समय हमारा दिल और दिमाग (लो) भावना के झंझावात में फंसा होता है। यह न तो सिर्फ हमें अपना संतुलन एवं किसी विषय के बारे में समझदारी से सोचने की क्षमता खोने के लिए बाध्य करता है बल्कि हम इसकी भी अवहेलना करने लगते हैं कि हमारे आचरण का दूसरों पर क्या असर होगा। वास्तव में हम इतने विचलित हो सकते हैं कि हम दूसरों के हित एवं उनके सुख के अधिकार के बारे में बिल्कुल ही भूल जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में हमारा व्यवहार - हमारे कार्य, शब्द, सोच, हम क्या भूलते हैं, हमारी कामनाएं- निश्चित रूप से दूसरों की ख़ुशी के लिए हानिकारक होगा, इसके बावजूद कि हमारी दूसरों के प्रति दीर्घगामी मंशा जो भी हो अथवा हमने व्यवहार सोच समझकर किया है या नहीं। उदाहरण के लिए एक ऐसी घटना को देखिये जब हम अपने परिवार के किसी सदस्य से विवाद में उलझे हुए होते हैं। हम कैसे ऐसे उत्तेजित माहौल को संभालते हैं यह इस पर निर्भर करता है कि हमारे व्यवहार के पीछे उस समय उसके पीछे कौन सी मानसिकता है-दूसरे शब्दों में हमारा कुन लॉग। ऐसे समय में हमें जितनी कम शांति होगी हमारी प्रतिक्रिया उतनी ही ज्यादा गलत होगी और हमारे शब्द उतने ही कटु होंगे और इसकी संभावना ज्यादा होगी कि हम कुछ ऐसा कह देंगे और कर देंगे जिसका हमें बाद में घोर पश्चाताप करना पड़े चाहे उस व्यक्ति से शायद हमें अपार स्नेह हो।

[25]

अथवा ऐसी घटना के बारे में सोचिये जब हमारे कारण किसी को छोटा सा कष्ट होता है जैसे चलते वक्त हमारी गलती से उनसे टक्कर हो जाए और वह व्यक्ति हमें असावधान कहते हुए हम पर चिल्ला पड़े। अगर हमारी प्रवृति (कुन लॉग) हितकारी है, अर्थात अगर हमारा हृदय करुणा से भरा हुआ है तो शायद हम ऐसी घटना को नजरंदाज कर दें । परन्तु हम ऐसा नहीं करेंगे अगर हम नकारात्मक भावना के वश में हों। । जब हमारे व्यवहार को प्रोत्साहित करने वाली भावना हितकारी है, हमारा व्यवहार स्वतः ही दूसरों के हित में होगा।

इस प्रकार से हमारा व्यवहार स्वतः नैतिक होगा। और जैसे जैसे हमारी नैतिक आचरण करने की आदत होगी, वैसे वैसे उकसाने पर हमारी गलत तरीके से प्रतिक्रिया करने की संभावना कम होगी। अगर हम गुस्सा भी होंगे, हमारा क्रोध बिना दुर्भाव या द्वेष के होगा। इसलिए आध्यात्मिक एवं नैतिक व्यवहार का लक्ष्य हमारे कुन लॉग को प्रवर्तित एवं उत्कृष्ट करने का है। इस प्रकार से हम अच्छे मनुष्य बन सकते हैं ।

[26]

हम पाते है कि जैसे जैसे हमें आध्यात्मिक गुणों के विकास से अपने दिल और दिमाग में गुणात्मक परिवर्तन लाने में सफलता मिलती है, वैसे वैसे हम विपदाओं से जूझने में बेहतर होने लगेंगे एवं नैतिक रूप से हमारे व्यवहार के कुशल होने की संभावना बढ़ेगी। अगर मुझे उदाहरण के रूप में अपने अनुभवों को रखने की आज्ञा हो तो मैं कहूँगा कि नैतिकता की समझ का मतलब यह है कि मेरी कुशल मानसिक अवस्था के विकास के लिए लगातार मैं प्रयास करता हूँ ताकि मैं दूसरों की यथासंभव उत्तम सेवा कर सकूँ। इसके अलावा, यह निश्चित करने से, जहां तक मैं ऐसा कर सकूँ, कि मेरे व्यवहार का सारतत्व ऐसे ही कुशल हो, मैं अपने अनैतिक व्यवहार की सम्भावना कम करता हैं । यह कार्यनीति कितनी प्रभावकारी है अर्थात इसका परिणाम दूसरों के कल्याण पर अल्पकाल अथवा दीर्घ काल में कैसा होगा, यह कहना कठिन है। लेकिन अगर मेरे प्रयास लगातार हों और अगर मैं उनपर ठीक से ध्यान दूँ तो चाहे कुछ भी हो मुझे पश्चाताप करने का कभी कोई कारण नहीं होगा। कम से कम मैं जानता हूँ कि मैंने अपनी क्षमता से जो अच्छे से अच्छा हो सकता था वह किया।

[27]

इस अध्याय में मेरी आध्यात्मिकता एवं नैतिकता के बीच के सम्बन्धों की व्याख्या इस प्रश्न का उत्तर नहीं बताती है कि हम नैतिकता के द्वन्द् को कैसे सुलझायें। हम लोग इसे बाद में देखेंगे। बल्कि मेरा उद्देश्य रहा है नैतिकता के मार्ग को रेखांकित करने का जो नैतिकता के संवाद को मानव के सुख दुख के मूलभूत अनुभवों से सम्बंधित होता है एवं उस समस्या से बचाता है जो नैतिकता को धर्म के साथ बांधने से पैदा होती हैं। सत्य तो यह है कि आजकल ज्यादातर लोगों को धर्म की जरूरत को नहीं महसूस करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे आचरण हो सकते हैं जो एक धर्म के लिए स्वीकार्य हों परन्तु दूसरे धर्म के लिए नहीं। मैं विश्वास करता हूँ कि मेरा ‘‘आध्यात्मिक क्रान्ति’’ शब्दावली से अभिप्राय मैंने स्पष्ट कर दिया कि आध्यात्मिक क्रांति में नैतिक क्रान्ति निहित है।

[28]

मनन योग्य प्रश्न

१. क्या सिर्फ धर्म का सहारा हमारे नैतिक जीवन की लिए पर्याप्त है?

२. लेखक के मत में धर्म एवं अध्यात्म के बीच क्या सम्बन्ध है?

३. "आतंरिक अनुशासन" से लेखक का क्या आशय है?

४. यह क्यों महत्वपूर्ण है कि हम इसका आकलन करें कि हमारे आचरण का अन्य लोगों के सुख के अनुभव अथवा आकांक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है।

५. कृपया तिब्बती शब्द कुन लॉन्ग की व्याख्या करें।

अध्याय ३ - प्रतीत्यसमुत्पाद एवम् यथार्थ का स्वरुप

अनुवादक की टिप्पणी – यह विषय भारतीय दर्शन के सबसे सूक्ष्म विचारों में से एक है, एवम् नैतिकता के अभ्यास तथा भारतीय मानसिक सुख की प्राप्ति के लिये इसे आत्मसात करना महत्वपूर्ण है । परम पावनदलाई लामा जी ने इस विषय को सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया है । फिर भी मेरा पाठकों से अनुरोध है कि वे इस अध्याय को बार बार पढ़ें एवम् इन विचारों पर मनन करें । इस अध्याय में पाठक प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का प्रयोग कई बार पायेंगे। इस शब्द का प्रयोग आम बोल चाल की भाषा में विरले होता है । इस शब्द का अर्थ है कि हमारे जीवन में जो कुछ भी होता है, वह कई कारणों पर निर्भर करता है। इसे हम हेतु एवं फल के सम्बन्ध के रूप में भी समझ सकते हैं किबिना हेतु के फल संभव नहीं है एवं बिना फल के हेतु, हेतु के रूप में नहीं जाना जाता है। यह व्याख्या बार बार देने के बजाय मैंने बौद्ध पारिभाषिक शब्द प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रयोग किया है,जिसका विश्लेषण प्राचीन भारत के बौद्ध दर्शन के विद्वानों ने विस्तार से किया था ।

कुछ साल पहले मैंने जापान में एक सार्वजनिक व्याख्यान दिया था । वहां मैंने कुछ लोगो कोफूल का गुच्छा लेकर अपनी ओर आते हुए देखा। यह सोच कर कि ये लोग मुझे फूल देने आ रहे हैं मैं खड़ा हो गया, लेकिन मैंने आश्चर्य चकित होकर देखा कि उन लोगों ने सीधे मेरी बगल से चलतेहुए पीछे की वेदी पर फूल चढ़ा दिये। मैं थोड़ा लज्जित हो कर बैठ गया। इसने मुझे यह बात याद दिलायी कि जिन्दगी में घटनाएँ जैसे घटती हैं, वे हमेशा हमारी आशा के अनुरूप नहीं होती । जीवन की घटनाओं का हमें जैसे आभास होता है एवं उन घटनाओं की वास्तवकिता के बीच का अंतर वास्तव में हमारे जीवन के बहुत सारे दुखों का स्रोत है। यह बात भी विशेष रूप से सत्य है, जैसा कि हमने इस उदाहरण में देखा कि हम लोग अधूरी समझ के आधार पर निर्णय करते हैं, जो पूर्णतया न्यायसंगत नहीं होता ।

[1]

इसके पहले कि हम आध्यात्मिक एवं नैतिक क्रांति का मतलब समझने की कोशिश करें, हम यथार्थ के स्वरुप के बारे में थोड़ा सोचें। हम जिस विश्व में रह

रहे हैं उसके साथ हमारे सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में कैसा आभास हो रहा है एवं उसकी प्रतिक्रिया में हमारा व्यवहार कैसा होता है । इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है, जिसका मतलब यह है कि बाहरी एवं आभ्यन्तरिक चीज़ों के बारे में हमारी सही समझ बहुत ही महत्वपूर्ण है। अगर हम उन्हें नहीं समझते हैं, तब अधिक सम्भावनाहै कि हम स्वयं एवं औरों की क्षति करेंगे।

[2]

जब हम इस विषय के बारे में सोचते हैं, तब हम ऐसा देख पाते हैं कि अंततः हम किसी एक वस्तु को अन्य वस्तु के सन्दर्भ से अलग-थलग नहीं देख सकते। वास्तव में हम सम्बन्धोंके परिप्रेक्ष्य में ही बात कर सकते हैं। अपनी दैनिक दिनचर्या में हम लोग अगणित कार्यों में हिस्सा लेते हैं एवं उनके कारणवश हमारा अनेक विषयों से सामना होता है, जिससे हमें बड़ी मात्रा में ऐंद्रिय ज्ञान प्राप्त होता है । किसी घटना को गलत समझने की समस्या , जो जाहिर है , कम और ज्यादा , अकसर इस वजह से होती है कि हममें किसी विशेष घटना अथवा अनुभव के एकाँगी पहलू को देख उसे उस घटना अथवा अनुभव का सम्पूर्ण रूप समझ बैठने की प्रवृति है। इससे हमारा दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है और उससे गलत अपेक्षाएं होती हैं। लेकिन जब हम यथार्थ के ही बारे में सोचते हैं तब हमें इसकी अंतहीन जटिलता का आभास होता है और हम महसूस करते हैं कि हमें इसे देखने का आदती तरीका अक्सर अपर्याप्त होता है ।अगर ऐसा नहीं होता तब भ्रम का विचार अर्थहीन होता। अगर चीज़ें एवं घटनाएँ हमेशा हमारी आशा के अनुसार होतीं, हमें कभी भ्रम या गलतफहमी का विचार ही नहीं होता।

[3]

इस जटिलता को समझने के लिये मुझे प्रतीत्यसमुत्पाद (तिब्बती में, तेन देल), जिसकी व्याख्या बौद्ध दर्शन के माध्यमिक मत में की गई है, से विशेष रूप सेसहायता मिली है। इसके अनुसार हम समझ सकते हैं कि घटनाएँ एवं वस्तुएँ तीन तरीकों से अस्तित्व में आती हैं । सबसे पहले कार्य एवं कारण का सिद्धांत लागू होता है, जिसके अनुसार सभी घटनाएँ एवं वस्तुऐं परस्परजटिलता से जुड़े हुए हेतु एवं प्रत्यय अर्थात कारण एवं परिस्थति पर निर्भर हो कर उत्पन्न होती हैं। यह सिद्धान्त हमें यह समझाता है कि कोई भी घटना अथवा वस्तु अपने

आप में उत्पन्न होने की, अथवा अस्तित्व में रहने की क्षमता नहीं रखती है। उदाहरण के लिये, अगर मैं कुछ मिट्टी लेकर उसे सांचे में ढालूं, तब मैं एक बर्तन को अस्तित्व में ला सकता हूँ। उस बर्तन का अस्तित्व मेरे प्रयास का परिणाम है। उसी समय यह असंख्य अन्य हेतुओं एवं प्रत्ययों का भी परिणाम है। इसमें सम्मिलित हैं मिट्टी और पानी का मिलकर लोंदा बनना। उसके बाद हम लोग अणु एवं परमाणुओं एवं अन्य सूक्ष्म कणों (जो स्वयं अन्य अनगिनत तथ्यों पर निर्भर करते हैं) के इकट्ठा होने की तरफ संकेत कर सकते हैं जिससे मिट्टी एवं पानी बनते हैं। उसके बाद वे परिस्थितियां हैं , जिनकी वजह से मैंने बर्तन बनाने का निर्णय लिया। उसके पश्चात् मेरे कार्यों की ऐसी सहयोगी परिस्थितियां हैं जब मैं लोंदे को घड़े का रूप देता हूँ। यह सभी तथ्य इस बात को स्पष्ट करते हैं कि मेरा घड़ा अपने आप बिना हेतु एवं प्रत्यय के अस्तित्व में नहीं आ सकता है। बल्कि यह प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम के अनुसार उत्पन्न है।

[4]

दूसरे स्तर परतेन डेल को हम ऐसी परस्पर-निर्भरता के अर्थ में समझ सकते हैं जो एक अवयवी एवं अवयव में विद्यमान है। बिना अवयव के अवयवी असंभव है और बिना अवयवीके अवयव का विचार व्यर्थ है। अवयवी का विचार अवयव पर निर्भर करता है, लेकिन ये अवयव स्वयं अवयवी होते हैं, जो अपने अवयवों से निर्मित होते हैं।

[5]

तीसरे स्तर पर हम सभी वस्तु एवं घटनाओं को प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम के अनुसार उत्पन्न समझ सकते हैं क्योंकि जब हम उनका विश्लेषण करते हैं तब पाते हैं कि अंततः उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसे हम इस तरह समझ सकते हैं, जिस तरह हम कुछ वस्तुओं एवं घटनाओं के बारे में बात करते हैं। उदाहरण के लिए, ‘‘क्रिया’’ एवं ‘‘कर्ता’’ जैसे शब्द एक दूसरे केअस्तित्व को मानकर चलते हैं। वैसे ही ‘‘माता-पिता‘‘ एवं ‘‘संतान‘‘ एक दूसरे के अस्तित्व को जताते हैं। कोई व्यक्ति तभी माता या पिता हो सकता है, जब उसके कोई संतान हो। ऐसे ही, कोई संतान अपने माता-पिता के होने के आधार पर ही पुत्र या पुत्री कहला सकती है। हम ऐसा ही परस्पर निर्भरता वाला सम्बन्ध उस भाषा में

देखते हैं जिसका प्रयोग हम व्यापार एवं व्यवसाय का विवरण देने के लिए करते हैं। हम उन व्यक्तियों को किसान कहते हैं,जो खेतों में काम करते हैं। औषधि के क्षेत्र में कार्य करने के कारण चिकित्सकों को ऐसे ही कहा जाता है ।

[6]

और सूक्ष्म रूप से देखा जाये तब वस्तुओं एवं घटनाओं को प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप मेंसमझा जा सकता है, उदाहरण के लिए जब हम प्रश्न करते हैं कि आखिर मिट्टी का घड़ा क्या है? जब हम किसी चीज़ को ढूंढते हैं ताकि हम उसके अंतिम स्वरुपकी व्याख्या कर सकें, तब हम पाते हैं कि घड़े का अस्तित्व ही--एवं इसी तरह से अन्य सभी वस्तुओं एवं घटनाओं – की कुछ हद तक एक अस्थायी स्थिति है एवं व्यवहार द्वारा निर्धारित है। जब हम प्रश्न करते हैं कि क्या इसकी पहचान इसके आकार से की जाती है, इसके क्रियाकलाप से, इसके विशेष अवयवों से (मिट्टी, पानी इत्यादि के संयोग से), तो हम पाते हैं कि "घड़ा" मात्र शाब्दिक प्रज्ञप्ति है अर्थात नामकरण मात्र है। इसका कोई भी एक लक्षण ऐसा नहीं है, जिससे वह परिलक्षित हो और न ही सारे लक्षणों को मिलाकर वह परिलक्षित हो सकता है। हम भिन्न-भिन्न आकार के घड़ों की कल्पना कर सकते हैं, जो घड़ा ही हैं। एवं चूंकि हम इसके अस्तित्व की बात वास्तव में हेतु एवं प्रत्यय के जटिल सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में ही कर सकते हैं,इस दृष्टिकोण से देखने पर इसका कोई निर्धारक गुण नहीं है। अन्य शब्दों में, इसका अस्तित्व स्वयं में अथवा स्वयं का नहीं है, बल्कि यह प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम के अनुसार उत्पन्न है।

[7]

जहाँ तक मानसिक तत्त्व की बात है, वहां पर भी हम पुनः परस्पर-निर्भरता देखते हैं। यहां पर यह निर्भरता दर्शक एवं दृश्य के बीचहै। उदाहरण के लिए लें कि हम एक फूल को कैसे देखते हैं। सबसे पहले फूल को देखने के लिए एक इंद्रिय का होना आवश्यक है। दूसरी बात, वह परिस्थिति होनी चाहिए - इस संदर्भ में स्वयं फूल का अस्तित्व होना चाहिए । तीसरी बात, फूल को देखने के लिए ऐसा कुछ होना चाहिए जिसकी वजह से देखने वाले का ध्यान फूल की तरफ आकर्षित हो। फिर, इन सभी कारणों के बीच अंतःक्रिया की वजह से एक

मानसिक घटना घटती है, जिसे हम फूल को देखना कहते हैं। अब हम लोग इसका विश्लेषण करते हैं कि इस घटना में आखिर क्यानिहित है। क्या यह सिर्फ इंद्रियों का कार्य है? क्या यह सिर्फ इंद्रियों एवं फूल के बीच अंतःक्रिया है? अथवा यह कुछ और है? अंततः हम पाते हैं कि अंतहीन हेतु एवं प्रत्यय की जटिल श्रृंखला के प्रसंग के बाहर देखने की अवधारणा समझना संभव नहीं है।

[8]

जब हम मन को निरीक्षण का विषय बनाते हैं , यद्यपि हमें इसे एक स्वाभाविक एवं अपरिवर्तनशील वस्तु जैसा समझने की प्रवृति है , हम पाते हैं कि इसे भी प्रतीत्यसमुत्पाद के परिप्रेक्ष्य में ही बेहतर समझ सकते हैं। यह इसलिए है कि प्रत्येक ऐंद्रिय , ज्ञानगत एवं भावनात्मक अनुभव के अलावा इसकी स्वतंत्र सत्ता की कल्पना करना कठिन है। बल्कि मानस एक ऐसी कृतिहै जो विस्तृत जटिल घटनाओं से उत्पन्न होती है।

[9]

प्रतीत्यसमुत्पाद को समझने का एक अन्य तरीका यह है कि हम समय के स्वभाव को देखें।साधारणतः हम उसे काल कहते हैं जिसे हम एक स्वंतत्र रूप से विद्यमान वस्तु मानते हैं। हम भूत, वर्तमान, एवं भविष्य के रूप में काल की बात करते हैं। लेकिन, जब हम इसे गौर से देखते हैं तब हम यहाँ पाते हैं कि समय की अवधारणा भी व्यवहार मात्र है। हम पाते हैं कि "वर्तमान" शब्द सिर्फ "भूत" एवं "भविष्य" के बीच जोड़ने वाला नामचिन्ह मात्र है। हम वास्तव में वर्तमान क्या है, इसे एकदम सटीक रूप से निर्धारित नहीं कर सकते हैं। जिसे हम वर्तमान मानते हैं उसके सिर्फ एक क्षण के अंश के पहले भूतकाल होता है और इसके सिर्फ एक क्षण के अंश के बाद भविष्य हेाता है। फिर भी अगर हम कहें कि वर्तमान "अभी का क्षण" है, जैसे ही यह शब्द हमारे मुख से निकलता है यह भूतकाल में चला जाता है। तथापि अगर हम ऐसा मान के चलें कि एक ऐसा क्षण अवश्य है जिसे भूत और भविष्य के रूप में विभाजित नहीं किया जा सकता है, तब हमारे पास वास्तव में भूत, वर्तमान और भविष्य के रूप में विभाजित करने का कोई आधार नहीं रहेगा। अगर ऐसा एक अविभाज्य क्षण होता तो फिर हमारे पास केवल वर्तमान ही होता। लेकिन वर्तमान की

अवधारणा के बिना भूतकाल एवं भविष्यकाल के बारे में बात करना कठिन है, क्योंकि दोनों ही स्पष्ट रूप से वर्तमान पर निर्भर करते हैं। इसके अलावा, अगर हम अपनेविश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्तमान का कोई अस्तित्व नहीं है, तब हम न केवल लौकिक व्यवहार को अस्वीकार करेंगे, बल्कि हम अपने अनुभवों को भी अस्वीकार करेंगे। वास्तव में जब हम अपने काल के अनुभव का विश्लेषण करने लगते हैं, तब हम पाते हैं कि यहाँ पर भूतकाल अन्तर्धान हो जाता है एवं भविष्यकाल अभी आया ही नहीं है। हम सिर्फ वर्तमान को ही अनुभव करते हैं।

[10]

इन सारे पर्यवेक्षणों से हम क्या समझते हैं? अवश्य ही जब हमारी सोच इस दिशा में होती है,तब वस्तु एवं घटनाएँ कुछ ज्यादा जटिल हो जाती हैं। इसके संतोषजनक निष्कर्ष में निश्चय रूप से यह कह सकते हैं कि वर्तमान का अस्तित्व वस्तुतः है। लेकिन हम इसके अस्तित्व का विचार स्वभावतः एवं विषयगत रूप से नहीं कर सकते हैं।वर्तमान का अस्तित्व भूत एवं भविष्य के सापेक्ष है।

[11]

इस पर्यवेक्षण से हमें क्या सहायता मिलती है? इस का क्या मूल्य है? इससे कई महत्वपूर्ण अर्थनिकलते हैं। प्रथमतः जब हम समझने लगते हैं कि जो हम देखते हैं या अनुभव करते हैं, वह आपस में जुड़े हुए अपरिमित हेतु एवं प्रत्यय अर्थात कारण एवं परिस्थिति की श्रृंखला से उत्पन्न होते है, तब हमारा पूरा दृष्टिकोण बदलने लगता है। हम देखने लगते हैं कि जिस विश्व में हम रहते हैं वह एक जीवित इकाई के रूप में है, जिसकी हर कोशिका बाकी कोशिकाओं के साथ संतुलित सहकारिता कायम रखते हुए सम्पूर्ण का पोषण करने के लिए कार्य करती है। फिर अगर, जैसे रोग की अवस्था में, यदि एक कोशिका को भी क्षति पहुँचती है, तो फिर संतुलन कमजोर हो जाता है और सम्पूर्ण अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है।फिर इससे यह दिखता है कि हमारा व्यक्तिगत कल्याण औरौं के कल्याण से एवं जिस वातावरण में हम रहते हैं उससे घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि हमारा हर व्यवहार, हमारा हर कार्य, हर

शब्द एवं विचार चाहे वे कितने भी महत्वहीन दिखते हों, इनका प्रभाव न केवल हम पर पड़ता है बल्कि औरों पर भी पड़ता है।

[12]

इसके अतिरिक्त जब हम यथार्थ को प्रतीत्यसमुत्पाद के दृष्टिकोण से देखते हैं, तब यह हमें वस्तुओं एवं घटनाओं को ठोस, स्वतंत्र, एवं अलग थलग इकाई के रूप में देखने की हमारी सामान्य प्रवृति से दूर खींचती है। यह उपयोगी है क्योंकि यही प्रवृत्ति है, जिसके कारण हम अपने अनुभव के एक या दो पहलुओं को बढ़ा-चढ़ा कर उसी को किसी परिस्थिति के पूर्ण यथार्थ का प्रतिरूप बनाते हुए इसकी विस्तृत जटिलताओं को अनदेखा कर देते हैं।

[13]

प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणा के द्वारा सूचित यथार्थ की ऐसी समझ हमारे सामने एक बड़ी चुनौती भी लाती है। यह हमें वस्तुओं एवं घटनाओं को श्वेत और श्याम के रूप में देखने को कम एवं जटिलता से आपस में जुड़े हुए संबंधों -- जिनका सटीक निर्धारण कठिन है -- के रूप में अधिक देखने के लिए चुनौती देती है। यह स्वतंत्र अस्तित्व के परिप्रेक्ष्य में बात करना कठिन कर देती है। और , यदि सभी वस्तुएँ अन्य वस्तुओं पर निर्भर करती हैं , और कोई भी वस्तु स्वतंत्र रुप से विद्यमान नहीं है , तब हमें यह समझना होगा कि हमारे सबसे प्रिय आत्म का अस्तित्व भी ऐसा नहीं है जैसा हम सामान्यतः मानकर चलते हैं। वास्तव में , हम पाते हैं कि अगर हम आत्म की पहचान का विश्लेषण करते है , तब इसका प्रतीत ठोसपन एक मिट्टी के बर्तन अथवा वर्तमान क्षण से भी अधिक सरलता से लुप्त होतादिखता है। क्योंकि जहां एक मिट्टी का बर्तन एक ठोस वस्तु है , जिसकी ओर हम वस्तुतः संकेत कर सकते हैं , वहां आत्म इससे ज्यादा भ्रामक है। इसीलिए इसकी पहचान एक निर्मिति के रूप में प्रकट हो जाती है। हम ऐसा देखने लगते हैं कि हमारी ‘‘स्व’’ एवं ‘‘पर’’ के बीच तीव्र भेद करने की आदत कुछ हद तक अतिशयोक्तिपूर्ण है।

[14]

यंहा इस बात को नकारा नहीं जाता है कि हर मनुष्य के भीतर प्राकृतिक एवं सही रूप से ’’मैं’’ की प्रबल भावना मौजूद है। भले हम यह नहीं कह सकें कि

ऐसा क्यों हैं, स्वयं की भावना अवश्य ही विद्यमान है। लेकिन हम लोग निरीक्षण करें कि यह वास्तविक विषय जिसे हम ''आत्म'' कहते हैं वह किससे निर्मित है। क्या यह चित्त है? कभी कभी ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति का चित्तउत्तेजित हो जाता है अथवा खिन्न हो जाता है। दोनों ही स्थितियों में, चिकित्सक उस व्यक्ति के मानसिक सुख के लिए दवा लिख सकते हैं। इससे दिखता है कि साधारणतया हम चित्त को स्वयं के अधिकृत समझते हैं। एवं, जब हम वास्तव में इस पर ध्यान देते हैं तो पाते हैं कि ''मेरा शरीर'', ''मेरी बोली,'' ''मेरा मन'' इन सभी कथनों के अंदर एक स्वामित्व की धारणा छिपी हुई है। इसलिए, यह देखना कठिन है कि कैसे आत्म चित्त रूप है, जबकि यह सत्य है कि बौद्ध दर्शन के ऐसे विद्वान रहे हैं, जिन्होंने आत्म की पहचान के चित्त स्वरुप दर्शाने का प्रयास किया था। अगर आत्म एवं चित्त एक ही वस्तु होते, तब कर्ता एवं क्रिया अर्थात करने वाला एवं जानने के लिए प्रयास करना, दोनों एक ही चीज होने की विसंगति होती । हमें ऐसा कहना पड़ेगा कि कर्ता"मैं'' जो जानता है एवं जानने की प्रक्रिया एक ही चीज है। इस दृष्टिकोण से यह भी समझना कठिन है कि कैसे आत्म का अस्तित्व चित्त-शरीर के स्कन्ध से अलग स्वतंत्र वस्तु के रूप में रह सकता है। यह दर्शाता है कि "आत्म" शब्द किसी स्वतन्त्र वस्तु को व्यक्त नहीं करता है, बल्कि यह एक जटिलता से परस्पर सम्बद्ध वस्तुओं को एक दिया हुआ नाम है।

[15]

यहां थोड़ा रुक कर पुनर्विचार करें कि हम साधारणतः "आत्म'' की अवधारणा को कैसे समझतेहैं। हम कहते हैं, "मैं लम्बा हूँ, मैं छोटा हूँ, मैंने यह किया, मैंने वह किया'' और इस पर कोई प्रश्न नहीं करता है। यह बात अत्यंत स्पष्ट है कि हमारा इससे मतलब क्या है और सभी इस व्यव्हार को स्वीकारने में खुश हैं। इस स्तर पर हमारा अस्तित्व बिलकुल इस कथन के अनुसार है। यह हमारी दिनचर्या का हिस्सा है एवम् हमारे साधारण अनुभव के अनुरूप है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वस्तुओं का अस्तित्व सिर्फ इसलिए होता है कि उन्हें ऐसा कहा जाता है अथवा ऐसा कोई शब्द है जो इसको व्यक्त करता है। शशश्रृंग (ख़रगोश का सींग) किसी ने नहीं देखा है।

[16]

लोकाचार को हम तभी प्रामाणिक मान सकते हैं जब वह हमारे प्रत्यक्ष अनुभव अथवा अनुमान से प्राप्त ज्ञान के विरुद्ध नहीं है, और वह सार्वजनिक विचार की नींव का काम करता हो, जिसके अंतर्गत हम लोग सत्य एवं मिथ्या की समझ को स्थापित करते हैं। यह हम इस बात को स्वीकार करने से नहीं रोकते हैं, यद्यपि यह एक लोकाचार के अनुरूप पूर्णतया पर्याप्त है । बाकी वस्तुओं की तरह आत्म का अस्तित्व भी हमारे द्वारा दिये हुए नाम और धारणा पर निर्भर करता है। इस संदर्भ में एक ऐसी घटना के बारे में सोचें जब हम अंधेरे में कुण्डलित रस्सी को सांप समझ बैठते हैं तो हम डर कर थम जाते हैं। जबकि सच्चाई यह है कि रस्सी को भूल, रोशनी की कमी के कारण एवम् अपने भ्रम की वजह से हम इसे सांप समझ बैठते हैं। वास्तव में, कुण्डलित रस्सी में सांप का लेश मात्र भी गुण नहीं है, सिर्फ इतना है कि यह देखने में सांपजैसी लगती है। वहां सांप नहीं है। हमने एक निर्जीव वस्तु में सांप के अस्तित्त्व को थोप दिया है। इसी तरह स्वतंत्र रूप से सत एवं आत्म की अवधारणा भी ऐसी ही है।

[17]

हम यह भी पाते हैं कि "आत्म" की अवधारणा ही सापेक्ष्य है। यहां पर इस बात को सोचिये कि अकसर हम खुद को ऐसी परिस्थिति में पाते हैं जब हम स्वयं को दोषी ठहराते हैं, हम कहते हैं: "आह, अमुक अमुक दिन मैंने अपने साथ बुरा किया" और हम स्वयं पर क्रोधित होने की बातकरते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि वास्तव में दो भिन्न "आत्म" हैं, एक जिसने गलती की एवं दूसरा जो आलोचना करता है। पहले वाला वह "आत्म" है जिसको हम एक विशेष अनुभव अथवा घटना के सम्बन्ध में समझते है। दूसरे वाले को हम एक सामान्य "आत्म" के दृष्टिकोण से समझते हैं। फिर भी, यद्यपि इन दोनों में इस तरह के आंतरिक वार्तालाप होने की बात तो समझ में आती है, तब भी किसी भी क्षण में चित्त की एक ही सन्तति होती है। इसी तरह, हम देख सकते हैं कि किसी एक व्यक्ति के व्यक्तित्व के कई पहलू होते है। उदाहरण स्वरूप मेरे अपने विषय में एक ऐसे आत्म का बोध है जो एक भिक्षु है, एक आत्मबोध जो तिब्बती है, एक आत्म का बोध जो तिब्बत के आम्दो प्रान्त का है, इत्यादि। इसमें से कुछ आत्म

बाकी आत्म से पूर्व है। उदाहरण के लिए जो आत्म तिब्बती है वह मेरे भिक्षु वाले आत्म से पूर्व है। मैं सात साल की उम्र तक श्रवणेर (भिक्षु के बनने से पहले की दीक्षा प्राप्त) नहीं बना था। मेरा शरणार्थी वाले "आत्म" का अस्तित्व वर्ष 1959 से ही आया है। दूसरे शब्दों में, एक ही आधार पर कई उपाधियां स्थापित हैं। ये सभी तिब्बती हैं, क्योंकि वह "आत्म" अथवा पहचान का अस्तित्व मेरे जन्म से है। लेकिन वह सभी नाम से भिन्न हैं। इस वजह से मेरे लिए "आत्म" की स्वभावसत्ता के बारे में शंका करने के लिए और एक कारण है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते हैं कि किसी एक विशिष्टता से ही अंतत्वोगत्वा मेरा "आत्म" बनता है अथवा सारी विशिष्टताओं को मिलाकर बनता है, क्योंकि अगर मैं उनमें से एक या कई को त्याग भी देता, तब भी ''मैं'' की भावना बरकरार रहती।

[18]

इसीलिए कोई एक ऐसी चीज नहीं है, जिसे हम विश्लेषण करने पर प्राप्त कर सकें जो "आत्म" की पहचान हो। ऐसे ही जैसे जब हम किसी ठोस वस्तु की अंतिम पहचान को ढूंढने का प्रयास करते हैं तब वह हमारे हाथ नहीं आती है। वास्तव में, हम यह मानने को विवश हो जाते हैं कि यह मूल्यवान वस्तु जिसका हम इतनाख़याल करते हैं, जिसकी रक्षा के लिए हम इतना प्रयत्न करते हैं एवं यथासंभव आराम देने की कोशिश करते हैं, वह अंततः बरसात के मौसम के आकाश इंद्रधनुष से अधिक वास्तविक नहीं है।

[19]

.

अगर यह सच है कि ना तो किसी भी विषय या वस्तु, यहाँ तक कि ना ही "आत्म"का स्वभावतः अस्तित्व है, तो क्या हमारा यही निष्कर्ष है कि अंततः किसी भी चीज का अस्तित्व ही नहीं है? अथवा क्या जिन वस्तुओं का हम अनुभव करते हैं, वे हमारे मन की सिर्फ कल्पना मात्र है, जिसके अलावा इनका कोई अस्तित्व नहीं है?नहीं। जब हम कहते हैं कि वस्तु एवं घटनाओं के अस्तित्व की स्थापना केवल उनके प्रतीत्यसमुत्पाद स्वभाव के परिप्रेक्ष्य में ही हो सकती है और वह स्वाभाविक अस्तित्व और पहचान के बिना है, तब हम वस्तुओं के अस्तित्व को पूर्णतया नकार नहीं रहे हैं, बल्कि वस्तुओं की ''पहचान का

अभाव'' यह प्रदर्शित करता है कि वस्तुओं का अस्तित्व स्वतंत्र रूप से नहीं है, परस्पर-आश्रित होकर है।वस्तुओं के अस्तित्व की समझ को नकारना तो दूर, मैं सोचता हूँ कि प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणा हमें एक मज़बूत ढांचा प्रदान करती है, जिसमें कार्य एवं कारण, सत्य और मिथ्या, समानता एवं विविधता, हानि एवम् लाभ की स्थापना की जा सकती है| इसलिए इस अवधारणा से यह अनुमान लगाना पूर्णतः गलत है कि यह वस्तुओं के अस्तित्व के प्रति किसी प्रकार की उत्छेदवाद(वस्तु के अस्तित्व को नकारना) वाला दृष्टिकोण है| एक सीधी सी अस्तित्व विहीनता वाली अवधारणा से--जो बिना किसी वस्तु का अमुक होना और अमुक नहीं होने की समझ हो--मेरा तात्पर्य बिलकुल नहीं है| वास्तव में जब हम वस्तुओं की स्वाभाविकपहचान की विहीनता को आगे परीक्षण के विषय के रूप में लेकर उसके सही स्वरूप की खोज करते हैं, तब हम पहचान विहीनता की पहचान विहीनता आदि पाते हैं जो अनंत तक जाती है--जिससे हमारा निष्कर्ष निकलता है कि स्वाभाविक अस्तित्व का अभाव भी मात्र व्यवहारतः स्थित है| इसलिए जहाँ हम यह स्वीकार करते हैं कि अकसर जो प्रतीत होता है और जो वास्तविकता है, उनके बीच अंतर रहता है, फिर भी यह महत्वपूर्ण है कि हम उस कल्पना के अंत तक न जाएँ जहाँ वस्तु के पीछे एक ऐसा क्षेत्र है, जो कुछ ज्यादा ही वास्तविक है । इसमें समस्या यह है कि हम कहीं अपने दैनिक जीवन के अनुभवों को सिर्फ कल्पना के अलावा कुछ नहीं समझ कर अस्वीकार न कर दें । ऐसा करना नितांत गलत होगा।

[20]

आधुनिक विज्ञान में क्वांटम एवं सम्भावना के सिद्धांत का आविर्भाव सबसे उत्साहजनक प्रगतिमें से एक है। कुछ हद तक यह प्रतीत्यसमुत्पाद के विचार की पुष्टि करने वाला प्रतीत होता है। यद्यपि मैं इस सिद्धान्त को भली भांति समझने का दावा नहीं कर सकता हूँ । परिवेक्षण से इसनिष्कर्ष पर पहुँचना कि परमाणु के भी छोटे कणों के स्तर पर विषय कण के परिवेक्षण कर्ता और विषय के बीच स्पष्ट भेद करना कठिन होता है वैज्ञानिकों का यह निष्कर्ष यथार्थ के उस विचार के निकट पहुँचने जैसा लगता है, जिसकी मैने व्याख्या की है। फिर भी, मैं उस पर अत्यधिक जोर देना नहीं चाहता हूँ । विज्ञान जिसे आज सत्य

मानता है वह कल बदल सकता है ।नई खोज का फल यह होता है कि जो आज स्वीकृत है, शायद कल उसमें शंका हो जाए । इसके अलावा हमारा यह विचार कि वस्तु एवं घटनाओं का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, भले किसी भी अनुमान पर आधारित हो, दोनों का परिणाम समान है|

[21]

यथार्थ की ऐसी समझ से हमें यह देखने में मदद मिलती है कि हम स्वयं एवम् औरों में जो तीव्र अंतर करते हैं, वह अधिकांशतः मानसिक अनुबंधन का परिणाम है| फिर भी इसकी कल्पना सम्भव है जहां स्वयं की धारणा को ऐसे विस्तारित रूप में देखने की आदत पड़ जाए, जिसमें एक व्यक्ति अपना हित औरों के हित में निहित देखता हो । उदाहरण के लिए, जब व्यक्ति अपनी मातृभूमि को लेकर सोचता है और कहता है, "हम तिब्बती हैं" अथवा "हम फ्रांसवासी हैं," तब वह अपनी पहचान किसी ऐसे रूप से करता है, जिसका दायरा एक व्यक्ति के स्वयं से कहीं ज्यादा बड़ा होता है ।

[22]

अगर आत्म का स्वाभाविक अस्तित्व होता, तब यह संभव होता कि हम आत्महित की बात औरों के हित से पृथक कर सकते| लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि वास्तव में स्वयं एवम् औरों को हम सिर्फ सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में ही समझ सकते हैं, अतः हमारी समझ में आता है कि आत्महित एवम् औरों का हित घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं । वास्तव में, प्रतीत्यसमुत्पाद के यथार्थ के इस चित्र में हम देखते हैं कि ऐसा कोई आत्महित नहीं है जो औरों के हित से बिलकुल असम्बद्ध हो। यह मूलभूत अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है जो यथार्थ के ह्रदय में निवास करता है, इसके कारण आपके हित में मेरा भी हित है। इससे यह स्पष्ट होता है कि " मेरे " हित और " आपके " हित घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं । गंभीर रूप से देखा जाये तो वे एक ही बिंदु पर मिलते हैं|

[23]

यथार्थ की अधिक जटिल समझ, जिसमें सभीवस्तुएँ एवम् घटनाएँ आपस में घनिष्ठता से जुड़ी हुई पायी जाती हैं, को स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं है कि हम यह नहीं मान सकते कि वे नैतिक सिद्धान्त जिनकी पहचान हमने पहले की

है वे बाध्यकारी नहीं हैं, यद्यपिप्रतीत्यसमुत्पाद की दृष्टि से धार्मिक सन्दर्भ के बाहर किसी भी वस्तु अथवा घटना के बारे में कूटस्थ सत्ता(परस्पर अनाश्रित परमतत्व) के तौर पर बात करना कठिन है। इसके विपरीत प्रतीत्यसमुत्पाद हमें कार्य एवं कारण के यथार्थ को अत्यधिक गंभीरता से लेने के लिए विवश करता है। इससे मेरा अभिप्राय उस तथ्य से है कि विशेष कारण विशेष परिणाम की ओर ले जाता है और हमारे कुछ कर्मों का फल दु:ख होता है, जबकि कुछ कर्मों का फल सुख होता है। यह हरेकके हित में है कि हम वही करें जो सुख प्रदान करता है एवं उन कर्मों से बचें, जिनसे दु:ख होता है । क्न्योकी हमने देखा है कि हमारे हित आपस में घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं, हम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं कि मेरी ख़ुशी की कामना और आपकी ख़ुशी के बीच नैतिकता एक अनिवार्य कड़ी के रूप में है|

[24]

मनन योग्य प्रश्न

१. घटनाओं को गलत समझने की प्रवृति को लेखक ने कैसे समझाया है?

२. प्रतीत्यसमुत्पाद की समझ की व्याख्या अपने जीवन की घटनाओं की मदद से करें।

३. लेखक मानस की भावना को कैसे समझाते हैं?

४. हमारे कार्यों का हम पर दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

५. हम स्वयं एवं दूसरों में भेद कर सकते हैं?

६. लेखक “मैं” तथा “स्वयं” की संकल्पना की व्याख्या कैसे करते हैं?

अध्याय ४ - लक्ष्य का पुनर्निर्धारण

मैंने यह देखा है कि प्राकृतिक रूप से सभी सुख चाहते हैं, दुःख नहीं चाहते । मैंने और भी सुझाया है कि ये हमारे अधिकार हैं, जो मेरे विचार में हम ये मान सकते हैं कि नैतिक कर्म वह है जो दूसरों के अनुभवों अथवा सुख की अभिलाषा को हानि नहीं पहुँचाता है। इसके आगे मैंने यथार्थ की एक ऐसी समझ की व्याख्या की है जो स्वयं एवं औरों के हितों में समानता दर्शाती है

[1]

आइये अब हम सुख की प्रकृति पर विचार करें। इसकी सबसे पहली गौर करने वाली बात यह है कि यह एक सापेक्ष गुण है। हम इसका अनुभव अपनी परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से करते हैं । जो एक व्यक्ति को प्रसन्नता देता है वही दूसरे के लिए दुःख का स्रोत हो सकता है । हममें से ज्यादातर लोग आजीवन कारावास दिए जाने पर अत्यंत दुखी होंगे। लेकिन एक अपराधी जिसे मृत्युदंड की सजा का भय हो, वह अपने दण्ड को आजीवन कारावास में बदल जाने से बहुत प्रसन्न होगा। दूसरी बात यह है कि यह पहचानना महत्वपूर्ण है कि एक ही शब्द "सुख" का प्रयोग हम विभिन्न स्थितियों का वर्णन करने के लिए करते हैं, हालाँकि यह तिब्बती भाषा में अधिक स्पष्ट है जहाँ दे वा शब्द का अर्थ "इंद्रिय सुख" के लिए भी होता है। हम सुख की बात गर्मियों में ठण्डे जल से नहाने के संदर्भ में करते हैं। हम सुख की बात कुछ काल्पनिक स्तिथियों को लेकर करते हैं, जैसे जब हम कहते हैं कि "अगर मेरी लॉटरी निकल जाए तो मैं कितना सुखी होऊँगा"। हम परिवार सम्बन्धी साधारण ख़ुशी को लेकर भी सुख की बात करते हैं।

[2]

इस सन्दर्भ में सुख एक ऐसी स्थिति है जो ऊँच-नींच एवं यदा-कदा अंतराल के बावजूद बरकरार रहती है। लेकिन गर्मी के दिन में ठन्डे पानी से नहाने से प्राप्त सुख, क्योंकि यह ऐसी क्रिया का परिणाम है जो इन्द्रियों की तुष्टि के लिए है, निश्चित रूप से अस्थायी है । अगर हम पानी में बहुत ज्यादा देर रह जाएं तो हमें सर्दी लगने लगती है । वास्तव में जो सुख हम इन क्रियाओं से पाते हैं वह उनके अनित्य होने पर निर्भर करता है। लॉटरी में बड़ी भारी रकम जीतने के सन्दर्भ में यह प्रश्न कि इससे जीतने वाले को स्थायी सुख मिलेगा या शीघ्र ही उसे समस्याएं एवं कठिनाइयां दबा देंगी, जिनका समाधान सिर्फ धन से नहीं हो सकता है, यह

सब जीतने वाले पर निर्भर करता है। लेकिन सामान्य रूप से कहने में, अगर पैसा हमें खुशी ला सकता है तो भी वह इस प्रकार का होता है जिसे पैसे के द्वारा ख़रीदा जा सकता है जैसे कि भौतिक वस्तुएँ अथवा ऐंद्रिय अनुभूति और हम यह पाते हैं कि ये स्वयं दुःख का स्रोत बन जाते हैं। जहाँ तक हमारी संपत्ति का प्रश्न है, उदाहरण के लिए, हमें मानना पड़ता है कि अक्सर वह हमें जीवन में कष्ट ज्यादा देती है। यदि हमारी गाड़ी खराब हो जाती है, हमें पैसों का नुकसान होता है, हमारे सबसे कीमती सामान चोरी हो जाते हैं, हमारा घर आग में क्षतिग्रस्त हो जाता है। तो ऐसी घटनाओं के घटने से अथवा इन घटनाओं के होने की आशंका से हम दुखी रहते हैं।

[3]

अगर ऐसी बात नहीं होती--अगर वास्तव में इन क्रियाओं और परिस्थितियों के अंदर दुःख का बीज नहीं होता तो हम इनका जितना ज्यादा भोग करते, हमें उतना अधिक सुख मिलता, ठीक वैसे ही जैसे हमारी पीड़ा उतनी ही बढ़ती जाती है जितना हम उस पीड़ा के कारण को सहते जाते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है। वास्तव में यदा-कदा हमें ऐसा लगता है कि हमें पूर्ण सुख मिल गया है, लेकिन यह पूर्ण लगने वाला सुख पत्ते पर गिरी ओस की उस बूंद की तरह क्षणभंगुर होता है, जो एक क्षण में खूबसूरती से चमकती है एवं दूसरे क्षण में गायब हो जाती है।

[4]

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भौतिक विकास से बहुत ज्यादा आशा करना एक भूल है । भौतिकवाद स्वयं समस्या का कारण नहीं हैं। बल्कि समस्या का मूल कारण है हमारी वह अवधारणा कि सिर्फ इन्द्रियों की तुष्टि से ही हमें पूर्ण संतोष मिल सकता है। पशुओं से भिन्न, जिनका सुख प्राप्ति का प्रयास जीवित रहने एवं इन्द्रियों की कामनाओं की तात्कालिक तुष्टि तक ही सीमित होता है, हम मनुष्यों में सुख को एक गहरे स्तर पर अनुभव करने की क्षमता है, जिसे प्राप्त होने पर हम प्रतिकूल अनुभवों को दबाने की क्षमता रखते हैं। एक सैनिक के बारे में सोचिये जो युद्ध में लड़ता है। वह घायल हो गया लेकिन युद्ध जीत गया। विजयी होने से प्राप्त संतुष्टि के फल स्वरुप उसके घाव के कारण पीड़ा का अनुभव हारने वाले पक्ष के उतने ही घायल सैनिक की अपेक्षा संभवतः काफी कम दुखदायी होगा।

[5]

मनुष्यों की सुख को गहरे स्तर पर अनुभव करने की क्षमता यह भी दर्शाती है कि कैसे सिर्फ भौतिक वस्तुओं का अर्जन करने की तुलना में संगीत एवं कला जैसी चीज़ें हमें अधिक सुख एवं संतुष्टि प्रदान करती हैं। संगीत एवं कला का सौन्दर्यबोध हमारे सुख का स्रोत होता है, परन्तु इनमें भी ऐन्द्रिय अनुभूति का प्रबल अंश है। संगीत हमारे कान पर, कला आँख पर और नृत्य शरीर पर निर्भर करता है। इसी तरह जो संतुष्टि हम अपने कार्य अथवा व्यवसाय से पाते हैं वह हम ज्यादातर इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त करते हैं। कोई कार्य या व्यवसाय अपने आप हमें ऐसा सुख नहीं दे सकता, जिसकी हम कल्पना करते हैं।

[6]

अब हम यह विवाद कर सकते हैं कि अस्थायी एवं स्थायी सुख, क्षणभंगुर सुख और वास्तविक सुख के बीच अंतर देखना भले ही ठीक हो, परन्तु प्यास से मरते हुए व्यक्ति के लिए अर्थवान सुख की बात सिर्फ पानी मिलने में है। इस पर हम बहस नहीं कर सकते । जब जीवित रहने का प्रश्न है, स्वाभाविक रूप से हमारी आवश्यकताएँ इतनी सर्वोपरि हो जाती हैं कि हमारा अधिकांश प्रयास उनकी पूर्ति में चला जाता है। फिर भी, क्योंकि जीवित रहने की कामना शारीरिक आवश्यकता से उत्पन्न होती है, फलतः शारीरिक संतुष्टि सर्वदा जो इंद्रियों से प्राप्त है वहीं तक सीमित है। इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि हम हमेशा इन्द्रियों की तत्काल संतुष्टि के प्रयास में ही लगे रहें। वास्तव में जब हम गौर से सोचते हैं तो हम देखते हैं कि इन्द्रियों के आवेग को तुष्ट करने के बाद जो हम अल्पकालिक आनंद अनुभव करते हैं, वह उस प्रकार के आनंद से बहुत भिन्न नहीं है जैसा कि अफीम आदि के नशे की लत वाला व्यक्ति नशा करने के बाद महसूस करता है। अस्थायी आनंद के बाद तुरंत और अधिक के लिए तृष्णा होती है। और जैसे नशीले पदार्थों का सेवन अन्त में समस्याएं ही पैदा करता है, वैसे ही हमारी इन्द्रियों की तात्कालिक तुष्टि का प्रयास भी अन्त में समस्याएं ही पैदा करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कुछ क्रियाओं में हम जो आनंद लेते हैं वह किसी प्रकार से अनुचित है, लेकिन हमें यह स्वीकारना होगा कि इन्द्रियों की कामनाओं की स्थायी तुष्टि की आशा की जा सकती है । क्योंकि अच्छे भोजन से मिलने वाला आनन्द तभी तक टिकेगा जब तक हमें फिर से भूख न लगे। प्राचीन भारत के एक विद्वान ने कहा था: "इन्द्रियों की तुष्टि में लगे

रहना नमकीन पानी पीने जैसा है: हम इनका जितना ज्यादा भोग करेंगे, उतना ही हमारी तृष्णा एवं प्यास बढ़ती जाती है।”

[7]

वास्तव में हम पाते हैं कि हमारे अधिकांश दु:ख--जिन्हें मैं आन्तरिक दु:ख कहता हूँ--का श्रेय जाता है हमारे सुख के लिए आवेग वाली प्रवृत्ति को। हम किसी भी परिस्थिति की जटिलता को समझने के लिए विराम नहीं लेते हैं। शीघ्र तुष्टि प्राप्त करने हेतु हमारी प्रवृत्ति सबसे लघु मार्ग अपनाने की होती है। लेकिन ऐसा करने के कारण हम अक्सर स्वयं को अधिक मात्रा में संतुष्टि प्राप्त करने से वंचित कर जाते हैं। यह वास्तव में बड़ी विडम्बना है। साधारणतया हमारे बच्चे जो भी करना चाहें हम ऐसी अनुमति नहीं देते हैं । हम जानते हैं कि अगर उन्हें पूरी स्वंतत्रता दी जाये तो वह शायद पढ़ने के बजाय खेलने में समय व्यतीत करेंगे। इसलिए हम उन्हें खेल से तत्काल मिलने वाले आनंद को त्याग उन्हें पढ़ने के लिए विवश करते हैं। हमारी सोच दूरगामी होती है। यद्यपि बच्चों को पढ़ाई में शायद कम आनंद मिले, किन्तु पढ़ाई उन्हें भविष्य के लिए ठोस नींव देती है। लेकिन हम वयस्क अक्सर इस सिद्धान्त को अनदेखा कर जाते हैं। हम इस तथ्य की अवहेलना करते हैं, उदाहरण के लिए, यदि वैवाहिक सन्दर्भ में एक संगी अपना पूरा समय स्वयं के संकीर्ण स्वार्थ में लगाये रहे तो यह निश्चित है कि दूसरे संगी को हानि होगी। और जब ऐसा होता है तो यह अवश्यसंभावी है कि उस विवाह को बचाना कठिन से कठिन हो जायेगा। इसी तरह हम यह समझने में विफल रहते हैं कि जब माता-पिता सिर्फ एक दूसरे में ही ध्यान-मग्न रहते हुए बच्चों का ख्याल नहीं रखते हैं तो बच्चों के लिए इसका निश्चित ही गलत परिणाम होता है।

[8]

जब हम दूसरों के हित की चिन्ता किये बिना अपनी तात्कालिक कामनाओं की पूर्ति का प्रयास करते हैं, तब हम स्थायी सुख की सम्भावना को नष्ट कर देते हैं। कल्पना कीजिये कि हम जिस मुहल्ले में रहते हैं वहाँ दस और परिवार वास करते हैं। यदि हम उनके कल्याण की बात कभी नहीं सोचते हैं, तो हम स्वयं समाज से लाभ लेने का अवसर खो बैठते हैं । दूसरी तरफ अगर हम मित्रता के लिए प्रयास करते हैं और अपने पड़ोसियों के हित के लिए सोचते हैं, तो हम अपने एवं अपने पड़ोसियों का कल्याण कर पाते हैं। या फिर एक और उदाहरण

की कल्पना कीजिए, जब हम किसी अपरिचित व्यक्ति से मिलते हैं। शायद हम साथ भोजन के लिए चलते हैं। इसमें शायद हमारे थोड़े पैसे खर्च हों। लेकिन इसके परिणाम में एक ऐसे सम्बन्ध बनने की अच्छी सम्भावना है, जिससे हम आने वाले वर्षों तक लाभान्वित हो सकें। इसके विपरीत यदि किसी से मिलने पर हमें उन्हें धोखा देने का अवसर दिखता है एवं हम ऐसा कर बैठें तो भले ही हमें तत्काल कुछ धन मिल जाये, किन्तु शायद हमारे दीर्घकालिक अच्छे सम्बन्ध की संभावना पूर्णतया नष्ट हो जाये।

[9]

अब हम इस चीज़ के स्वभाव को देखते हैं जिसे मैं वास्तविक सुख कहता हूँ । यहाँ मेरा स्वयं का अनुभव शायद इस स्थिति को स्पष्ट करने का कार्य करे। एक बौद्ध भिक्षु के रूप में मेरा प्रशिक्षण बौद्ध धर्म के अनुशीलन, दर्शन एवं सिद्धान्तों में हुआ है। जहाँ तक आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं से जूझने की बात है, मुझे इसके लिए नहीं के बराबर व्यावहारिक शिक्षा मिली है। अपने जीवन काल में मुझे बहुत बड़े उत्तरदायित्वों एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है । तिब्बत पर कब्जा होने के कारण सोलह वर्ष की उम्र में मेरी स्वतंत्रता खो गयी । चौबीस वर्ष की उम्र में मुझे अपना देश ही खो कर प्रवास में आना पड़ा। पिछले चालीस साल से मैं एक विदेशी राष्ट्र में शरणार्थी के रूप में निवास कर रहा हूँ, हालाँकि, यह देश मेरा आध्यात्मिक गृह है । इस पूरे काल में मैं अपने साथी शरणार्थियों, और जहाँ तक सम्भव रहा है उन तिब्बतियों की जो तिब्बत में हैं, की सेवा के प्रयास में लगा रहा हूँ। इस बीच हमारी मातृभूमि ने असीमित विनाश एवं कष्टों का सामना किया है। साथ में मैंने अपनी माँ एवं सन्निकट परिवार के सदस्यों के साथ प्रिय मित्रों को भी खोया है। जब मैं इन क्षतियों के बारे में सोचता हूँ तो मैं अवश्य ही दुख महसूस करता हूँ, किन्तु इन सबके बावजूद, जहाँ तक मेरी मूलभुत शान्ति का प्रश्न है, हमेशा मैं शांत एवं संतुष्ट रहता हूँ। जब समस्याएँ खड़ी होती हैं, जिन्हें अवश्य होना होता है, सामान्यतः मैं उनसे विचलित नहीं होता। मुझे यह कहने में कोई झिझक नहीं है कि मैं खुश हूँ।

[10]

मेरे अनुभव के अनुसार सच्चे सुख का प्रधान लक्षण है शांति अर्थात आतंरिक शान्ति। इससे मेरा तात्पर्य बेसुधी की अवस्था से नहीं है न ही मैं संवेदनशीलता के अभाव की बात कर रहा हूँ । उसके विपरीत, मैं जिस शान्ति की व्याख्या कर

रहा हूँ उसकी जड़ औरों के कल्याण की चिन्ता में है जिसमें ऊँचे स्तर की संवेदनशीलता एवं भावना विद्यमान होती है, यद्यपि मैं स्वयम् यह दावा नहीं कर सकता कि मुझे इसमें बहुत सफलता मिली है। फिर भी मैं अपनी मानसिक शान्ति का श्रेय औरों के हित के लिए अपने प्रयास को देता हूँ।

[11]

.

यह तथ्य कि सुख का प्रधान लक्षण आन्तरिक शांति है, यह तथ्य इस विरोधाभास को प्रकाशित करता है कि दुनिया में ऐसे अनेक लोगों के बारे में सोच सकते हैं जो हर भौतिक सुविधाओं से युक्त होने के बावजूद असंतुष्ट रहते हैं और ऐसे भी लोग हैं जो अत्यधिक कठिन परिस्थितयों में भी प्रसन्न रहते हैं । उदाहरण के लिए अस्सी हजार तिब्बतियों को देखें जो मेरे तिब्बत छोड़ने के कुछ महीनों बाद तिब्बत छोड़ कर भारत सरकार की शरण में आ गये। उन्हें भयंकर परिस्थतियों का सामना करना पड़ा। खाद्य पदार्थों की कमी थी एवं दवाइयाँ और भी दुर्लभ थीं। शरणार्थी शिविरों में तिरपाल के तम्बू से ज्यादा अच्छा रहने का स्थान नहीं था। ज्यादातर लोगों के पास उन कपड़ों के अलावा, जिन्हें पहन कर उन्होंने अपना घर छोड़ा था, कुछ भी नहीं था । वे छुबा (परम्परागत तिब्बती पहनावा) पहनते थे जो कड़ाके की ठण्ड के लिए उपयुक्त था, जबकि वास्तव में उन्हें भारत में पतले सूती कपड़ों की जरूरत थी। ऊपर से उनके बीच कुछ ऐसी बीमारियां फैल गईं जो तिब्बत में अज्ञात थीं। फिर भी इतनी विपदाओं के बाद, आज बचे हुए लोगों पर उन का बहुत कम दुष्प्रभाव दिखता है। तब भी, कुछ ही लोगों का विश्वास पूर्णतया ध्वस्त हुआ है। कुछ ही लोग दुःख एवं निराशा से पस्त हुए। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ, एक बार जब आरम्भ का आघात खत्म हो गया तो ज्यादातर लोग काफी आशान्वित रहे और हाँ, बिलकुल प्रसन्न।

[12]

इससे हमें पता चलता है कि अगर हम आतंरिक शान्ति का विकास कर सकें तो हमें जीवन में भले ही कैसी भी कठिनाइयों का सामना करना पड़े, हमारी कल्याण की मूलभूत भावना दुर्बल नहीं होगी । यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि हम सुख प्राप्ति में बाह्य वस्तुओं के महत्व को अस्वीकार नहीं कर सकते

हैं, हमारा यह सोचना गलत होगा कि वे हमें सदा पूर्ण रूप से सुखी रख सकती हैं।

[13]

निश्चित रूप से हमारी शारीरिक एवं मानसिक संरचना, हमारा पालन-पोषण, और हमारी परिस्थितियां सभी हमारे सुख के अनुभव में योगदान देते हैं और हम सभी स्वीकार करते हैं कि कुछ चीजों की कमी इसे प्राप्त करना कठिन कर देती है। चलिए हम उन पर एक एक कर विचार करते हैं । स्वास्थ्य, मित्रगण, स्वतंत्रता एवं कुछ हद तक की समृद्धि, सभी महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं । स्वास्थ्य का महत्व सभी जानते हैं। हम सभी इसकी कामना करते हैं। ऐसे ही हम सभी मित्रों की कामना करते हैं और उनकी आवश्यकता महसूस करते हैं, चाहे हमारी परिस्थिति कुछ भी हो अथवा हम कितने ही सफल हो चुके हों। मैं सदैव से घड़ियों के बारे में उत्सुक रहा हूँ, विशेषकर मुझे वह बहुत प्रिय है जिसे मैं हमेशा पहनता हूँ, लेकिन वह घड़ी मुझ पर कभी स्नेह नहीं दर्शाती है। स्नेह से संतुष्टि पाने के लिए हमें ऐसे मित्रों की जरुरत होती है जो हमारे स्नेह के उत्तर में स्नेह दे सकें। अवश्य ही, विभिन्न प्रकार के मित्र होते हैं । कुछ ऐसे लोग होते हैं जो वास्तव में प्रतिष्ठा, धन, एवं ख्याति के मित्र हैं, ना कि उस व्यक्ति के जो इनसे संपन्न हैं। किन्तु मित्र से मेरा तात्पर्य उन लोगों से है जो जीवन में जब हमे कठिनाई होती है तब हमारी सहायता करते हैं, नाकि ऐसे लोग जिनके सम्बन्ध तुच्छ चीज़ों पर आधारित हैं।

[14]

जैसे स्वाधीनता हमें सुख की तलाश में, एवं अपने विचार रखने और व्यक्त करने में सहायता करती है, उसी तरह स्वतंत्रता हमारी आतंरिक शान्ति में योगदान देती है। जिस समाज में इसकी अनुमति नहीं होती है, वहां हम गुप्तचर पाते हैं जो हर समुदाय के जीवन की छानबीन करते हैं, यहाँ तक कि अपने परिवार को भी नहीं छोड़ते हैं। इसका अवश्यसंभावी परिणाम यह होता है कि लोग एक दूसरे पर विश्वास खोने लगते हैं । वे शंकालु हो जाते हैं एवं दूसरों की मंशा पर संदेह करने लगते हैं । जब किसी व्यक्ति के मूलभूत विश्वास का नाश हो जाता है तो हम उन्हें सुखी होने की आशा कैसे कर सकते हैं?

[15]

समृद्धि भी - धन की प्रचुरता के अर्थ में नहीं, बल्कि मानसिक एवं भावनात्मक सम्पन्नता के अर्थ में – हमारी आतंरिक शान्ति में बड़ा योगदान देती है। यहाँ भी हम उन तिब्बती शरणार्थियों का उदाहरण ले सकते हैं, जो साधनों के अभाव में भी सुखी रहे हैं ।

[16]

वास्तव में मनुष्य के वैयक्तिक कल्याण की भावना को स्थापित करने में ये सभी तत्व अहम भूमिका निभाते हैं। फिर भी मूलभूत आन्तरिक शान्ति एवं सुरक्षा की भावना के बिना इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। ऐसा क्यों? क्योंकि, जैसा कि हमने देखा है, हमारी सम्पत्ति स्वयं ही हमारी चिन्ता की जड़ है। ऐसे ही हमारी नौकरी भी यदि इसे खोने की चिन्ता हमें सता रही हो। यहाँ तक कि हमारे मित्र एवं सम्बन्धीगण भी हमारी कठिनाई का कारण बन सकते हैं। बीमारी में उन्हें हमारी सहायता की आवश्यकता पड़ सकती है वह भी ऐसे समय जब कि हम किसी जरूरी कार्य में व्यस्त हों। वे हमारे विरोधी बन सकते हैं और हमें धोखा भी दे सकते हैं । ऐसे ही हमारा शरीर भी, भले ही अभी कितना भी सुन्दर एवं स्वस्थ हो, अंततः वृद्ध हो जाता है। हम कभी भी रोग एवं दर्द की संभावनाओं से मुक्त नहीं हो सकते हैं । अतः यदि हममें आतंरिक शान्ति का अभाव हो तो स्थायी सुख को प्राप्त करने की आशा करना असम्भव है ।

[17]

फिर हम आतंरिक शान्ति कैसे पा सकते हैं? इस प्रश्न का एक निश्चित उत्तर नहीं है। लेकिन एक बात निश्चित है, कि कोई बाहरी तत्व हमें आंतरिक शान्ति नहीं दे सकता है। ना ही हम किसी चिकित्सक से आंतरिक शान्ति मांग सकते हैं। बहुत हुआ तो वह हमें तनाव अथवा अनिद्रा समाप्त करने की दवाई दे सकता हैं । ऐसे ही कोई मशीन अथवा कंप्यूटर चाहे वह कितना भी आधुनिक एवं शक्तिशाली क्यों न हो, हमें यह महत्वपूर्ण गुण आंतरिक शांति नहीं प्रदान कर सकता है। मेरी धारणा है कि आन्तरिक शान्ति का विकास, जिस पर स्थायी एवं इसलिए सार्थक सुख निर्भर करता है, हमारे जीवन के अन्य कार्यों की ही तरह है। हमें इसके कारणों एवं परिस्थितियों को पहचानना होगा एवं उन्हें उत्पन्न के लिए सतत् प्रयास करना होगा । हमें लगता है इसके लिए दो आयामी मार्ग का प्रयोग करना होगा। एक तरफ हमें उन तत्वों से बचना होगा जो इसमें बाधा पहुंचाते हैं

और दूसरी तरफ हमें उन तत्वों को उत्पन्न करना होगा जो इसमें सहायक होते हैं।

[18]

जहाँ तक आन्तरिक शांति के हेतु का प्रश्न है, उनमे सबसे महत्वपूर्ण है हमारी मूलभूत प्रवृत्ति। मुझे अपने एक और व्यक्तिगत उदाहरण से इसे समझाने का अवसर दें। मेरी वर्तमान की स्वाभाविक शान्ति के बावजूद मैं पहले थोड़ा सा गर्म-मिजाज हुआ करता था। मुझमें धैर्यहीनता एवं कभी-कभी क्रोध होने की संभावना होती थी । आज भी कभी-कभी मैं संयम खो बैठता हूँ। जब ऐसा होता है तो छोटी सी चिढ़न की बात भी अनावश्यक रूप से बड़ा आकार ले लेती है और मुझे काफी परेशान करती हैं। उदहारण के लिए, कभी मैं जब प्रातः काल नींद से उठता हूँ तो बिना किसी कारण के विचलित महसूस करता हूँ। उस परिस्थिति में मुझे अक्सर ऐसी चीजों से भी चिढ़ हो सकती है जो साधारणतया मुझे खुशी प्रदान करती हैं । अपनी घड़ी देख कर ही मुझमें खीझ की भावना उत्पन्न हो सकती है। मुझे यह और कुछ नहीं सिर्फ आसक्ति का कारण लगती है तथा इस के कारण और दुख का । लेकिन फिर अन्य दिनों में जब मैं सो कर उठता हूँ, तब यह मुझे एक अत्यंत जटिल एवं कोमल सुन्दर वस्तु जैसी दिखती है। हालाँकि, वास्तव में यह वही घड़ी है। आखिर क्या परिवर्तन हुआ? क्या मेरी एक दिन घृणा की भावना एवं दूसरे दिन संतुष्टि की भावना सिर्फ संयोग की बात है ? और क्या यह कोई मानसिक प्रक्रिया है, जिस पर मेरा कोई नियन्त्रण नहीं है ? यद्यपि, वास्तव में, हमारी संरचना का इसमें कुछ सहयोग है, किन्तु इसमें नियंत्रक तत्व निश्चय ही मेरी मानसिक प्रवृत्ति है। हमारी मूलभूत प्रवृत्ति कि हम बाहरी परिस्थितियों से कैसे सम्बधित हैं इसीलिए आन्तरिक शान्ति के विकास हेतु यह विचारणीय प्रथम विषय है। इस सन्दर्भ में भारत के महान साधक-विद्वान शान्तिदेव ने एक बार कहा था कि हम अपने पैरों को काँटों से बचाने के लिए पूरी धरती को चमड़े से ढकने की आशा नहीं कर सकते हैं, और वास्तव में ऐसा करने की आवश्यकता भी नहीं है। उन्होंने आगे कहा कि इसके लिए अपने पैर के तलवों को ढकना ही पर्याप्त होगा। अन्य शब्दों में, हालाँकि हम हमेशा बाह्य परिस्थितियों को अपने अनुकूल नहीं बदल सकते, हम स्वयं की प्रवृत्ति में सुधार ला सकते हैं।

[19]

आतंरिक शांति अर्थात वास्तविक सुख का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत निःसंदेह ही हमारे कर्म हैं, जो हम सुख प्राप्ति के लिए करते हैं। हम उनके योगदान के अनुसार उन्हें तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं, पहला, जिनका योगदान कुशल होता है, दूसरा, जिनका योगदान अव्याकृत (जो न तो कुशल है न अकुशल है) होता है और तीसरा जिनका योगदान अकुशल होता है। इस पर विचार करने से कि स्थायी सुख देने वाले कर्म में अस्थायी सुख देने वाले कर्म की अपेक्षा क्या विशेषता है, हम पाते हैं कि बाद वाले कर्म में स्वयं में कुछ कुशल मूल्य नहीं होता है। हमें किसी अच्छी चीज़ की कामना होती है, शायद किसी फैशन वाले वस्त्र की अथवा नए अनुभव की। हमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। हम सिर्फ उसे प्राप्त करना चाहते हैं अथवा उस अनुभव का आनन्द लेना चाहते हैं, एवं हम बिना सोचे समझे उस तृष्णा को संतुष्ट करने के प्रयास में लग जाते हैं। यहाँ मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि इसमें अवश्य कोई बुराई है। ठोस चीज़ की कामना करना मनुष्य की प्रकृति में है, उसे हम देखना चाहते हैं, हम स्पर्श करना चाहते हैं, हम पाना चाहते हैं । लेकिन, जैसा मैंने पहले कहा है, यह आवश्यक है कि हम यह जानें कि जब हम वस्तुओं की कामना उनसे प्राप्य आनंद के अतिरिक्त और बिना उचित कारण करते हैं, तब अंततोगत्वा वे अनेक प्रकार की समस्याओं का कारण बन जाती हैं और हम पाते हैं कि वह खुशी, जो हमें ऐसी प्रतीत होने वाली आवश्यकता को तृप्त करने से मिलती है, स्वयं अस्थायी होती हैं ।

[20]

हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि परिणामों की चिंता का अभाव ही अत्यंत घोर कर्म जैसे दूसरों को कष्ट देना, यहाँ तक कि आत्महत्या का कारण होता है। इनमे से कोई भी कर्म व्यक्ति की कामना को थोड़े समय के लिए संतुष्ट कर सकता है, लेकिन इस प्रकार की कामनाएं अत्यंत नकारात्मक होती हैं । अथवा, दूसरे उदाहरण स्वरुप, आर्थिक गतिविधि के क्षेत्र में नकारात्मक परिणामों का विचार किये बिना, लाभ प्राप्त करने के प्रयत्न से सफलता मिलने पर अवश्य ही बहुत प्रसन्नता दे सकता है। लेकिन अन्त में दुःख ही होता है, पर्यावरण दूषित होता है, हमारे अनैतिक तरीके दूसरों के व्यापार को बंद करते हैं, हमारे बनाये हुए बम लोगों की हत्या अथवा उन्हें घायल करते हैं ।

[21]

जहाँ तक उन गतिविधियों का प्रश्न है, जिनसे शान्ति एवं स्थायी सुख मिलता है, वहां हमें विचार करना चाहिए कि क्या होता है जब हम कुछ ऐसा करते हैं जिसे हम मूल्यवान समझते हों । संभव है कि हम अपने समाज की मदद करने की योजना बनाएँ और काफी प्रयास करने के पश्चात अंततः सफलता मिले। जब हम ऐसी गतिविधियों का विश्लेषण करते हैं तो हम पाते हैं कि इसमें विवेक की आवश्यकता होती है। इस विवेक में स्वयं एवं औरों पर सम्भावित परिणाम जैसे बहुत सारे तत्वों पर गंभीरतापूर्वक विचार करना होता है। मूल्यांकन की प्रक्रिया के दौरान, सदाचार का प्रश्न कि हमारे अभीष्ट कर्म नैतिक हैं या नहीं, स्वतः ही उत्पन्न होता है। प्रारंभिक आवेग यह हो सकता है कि हम छल कर कुछ पा लें, हम तर्क देते हैं कि भले ही हमें इस मार्ग से थोड़ी खुशी मिल जाएगी, वास्तव में ऐसे व्यवहार का दीर्घकालीन परिणाम कष्टकर हो सकता है। इसलिए हम सोच समझ कर एक कर्म प्रक्रिया को त्याग कर दूसरी कर्म प्रक्रिया को अपनाते हैं। तथा हम प्रयास एवं आत्म बलिदान के माध्यम से, अपने अल्पकालीन लाभ एवं औरों के सुख पर दीर्घकालीन प्रभाव दोनों पर विचार कर तथा पूर्व को उत्तर के लिए त्याग कर हम सुख पाते हैं जो शान्ति और वास्तविक संतुष्टि से परिलक्षित है। हम कठिनाइयों का सामना कैसे विभिन्न रूप से करते हैं यह इसकी पुष्टि करता है। जब हम छुट्टी मनाने जाते हैं, हमारा मुख्य उद्देश्य विश्राम करना होता है। फिर, अगर खराब मौसम, बादल एवं वर्षा के कारण हम बाहर आराम से समय व्यतीत करने की कामना पूरी नहीं होने पर निराश हो जाते हैं और हमारा सुख आसानी से नष्ट हो जाता है। दूसरी तरफ, जब हम किसी लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं और अस्थायी संतुष्टि की अपेक्षा नहीं करते हैं तब भूख, थकान, अथवा कष्ट की अनुभूति हमें थोड़ा भी विचलित नहीं करती है। दूसरे शब्दों में परोपकार ऐसे कर्मों का महत्वपूर्ण अंग है जो हमें वास्तविक सुख की ओर ले जाता है ।

[22]

इसीलिए जिसे आध्यात्मिक एवं नैतिक कार्य कहा जाता है उसके बीच हमें एक महत्वपूर्ण अंतर करना होगा। नैतिक कार्य वह हैं जहाँ हम स्वयम को दूसरों की हानि करने से और उनकी सुख की अभिलाषा में बाधा डालने से रोकते हैं । हम आध्यात्मिक कार्यों का वर्णन उपर्युक्त गुणों मैत्री, करुणा, धैर्य, क्षमाशीलता, विनम्रता, सहनशीलता, इत्यादि सन्दर्भों में कर सकते हैं जिनमें कुछ हद तक औरों के हित की अपेक्षा होती है। हम पाते हैं कि हमारे वे आध्यात्मिक कर्म जो

संकीर्ण स्वार्थ के बजाय दूसरों के हित की भावना से प्रेरित होते हैं, वे वास्तव में हमारा लाभ करते हैं। सिर्फ यही नहीं, वे हमारे जीवन को भी सार्थक बनाते हैं। कम से कम यह मेरा अनुभव है। जब मैं अपने जीवन को पीछे देखता हूँ, मैं पूर्ण आत्मविश्वास के साथ कह सकता हूँ कि ऐसी चीजें जैसे दलाई लामा का पद, उस पद से प्राप्त राजनीतिक शक्ति, और जो थोड़ी सी सम्पत्ति मुझे सौंपी गयी है, मेरी खुशी में उन सबका योगदान उस खुशी की तुलना में नगण्य है जो मुझे तब मिलती है जब मैं दूसरों की सहायता कर पाता हूँ।

[23]

क्या यह प्रस्ताव विश्लेषण पर खरा उतर सकता है? क्या जो कर्म औरों के कल्याण की कामना से प्रेरित हो कर किये जाते हैं, वे वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिए सबसे प्रभावशाली उपाय हैं? अब इन बातों पर विचार करें । हम मुनष्य सामाजिक प्राणी हैं । हम विश्व में दूसरों के कर्म के परिणाम स्वरुप आएं हैं । हम दूसरों पर निर्भर हो कर जीवित रहते हैं । भले ही हमें यह अच्छा लगे या न लगे, हमारे जीवन का शायद ही कोई क्षण हो जब हम दूसरों के कार्यों का लाभ नहीं उठा रहे होते हैं। इस कारणवश यह शायद ही आश्चर्य का विषय है कि हमारे ज्यादातर सुख हमारे दूसरों के साथ सम्बन्ध के सन्दर्भ में उत्पन्न होते हैं। यह कोई उल्लेखनीय बात नहीं है कि हमें सबसे अधिक आनंद तब होना चाहिए जब हम परोपकार की भावना से प्रेरित हों। सिर्फ इतना ही नहीं है। हम पाते हैं कि परोपकार वाले कर्म न ही सिर्फ सुख लाते हैं, बल्कि वे हमारी दुःख को भी कम करते हैं। यहाँ पर मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे व्यक्ति जिनके कर्म दूसरों को सुख प्रदान करने की भावना से प्रेरित होते हैं उनके जीवन में उन लोगों की तुलना में अवश्य ही कम समस्याएँ होती हैं जो ऐसा नहीं सोचते हैं। रोग, बुढ़ापा हो या किसी प्रकार की दुर्घटना हम सभी के लिए एक जैसे ही है। लेकिन ऐसे दुःख जो हमारी आतंरिक शान्ति का हनन करता है - चिंता, कुंठा, निराशायें अवश्य ही कम होती हैं। दूसरों के कल्याण की चिंता में हम स्वंय के लिए कम चिंता करते हैं। जब हम स्वयं के लिए कम चिंता करते हैं, हमारे कष्ट के अनुभव की तीव्रता कम हो जाती है।

[24]

ये बातें हमे क्या बताती है? प्रथम, क्योंकि हमारे हर कर्म का वैश्वीय आयाम है जिसमें दूसरों के सुख पर प्रभाव डालने की क्षमता है, अतः नैतिकता आवश्यक

है ताकि हम दूसरों को हानि न पहुँचायें। द्वितीय, वास्तविक सुख मैत्री एवं करुणा, धैर्य, सहनशीलता, क्षमाशीलता, विनम्रता इत्यादि जैसे आध्यात्मिक गुण में निहित है । यही गुण हमें एवं दूसरों को सुख देते हैं ।

[25]

मनन योग्य प्रश्न

१. सुख के "सापेक्ष गुण" से लेखक का क्या तात्पर्य है?

२. भौतिक प्रगति से बहुत ज्यादा आशा रखना गलत क्यों है?

३. लेखक का "सुख के लिए आवेग वाली प्रवृत्ति" से क्या आशय है?

४. यह आवश्यक क्यों है कि अपने दीर्घकालिक सुख के प्रयास के दौरान हम दूसरों के हित की चिंता भी करें।

५. लेखक "आतंरिक शांति" का विवरण कैसे करते हैं?

६. नैतिक कार्य एवं आध्यात्मिक कार्य के बीच लेखक क्या अन्तर देखते हैं?

अध्याय ५ - एक सर्वोत्तम भावना

अपनी हाल की यूरोप यात्रा के दौरान मैं नाज़ी हत्या स्थल आउशवित्ज़ गया। यद्यपि मैंने इस स्थान के बारे में काफी पढ़ा एवं सुना था, किन्तु फिर भी मैं इस अनुभव के लिए बिलकुल तैयार नहीं था। उन भठ्ठियों को देखकर जिनमें सैकड़ों हज़ारों लोगों को जलाया गया था, मेरी प्रारम्भिक प्रतिक्रिया घृणापूर्ण थी। मैं ऐसे योजना बद्ध ढंग से एवं निष्ठुरता पूर्वक किये गए भयंकर अपराध के साक्ष्य को देख कर स्तब्ध रह गया। फिर आउशवित्ज़ के आगंतुक केंद्र में स्थित संग्रहालय में मैंने जूतों का एक संग्रह देखा। उनमें से कई छोटे आकार के थे या उनमें चिप्पी लगी हुई थी, जो अवश्य ही बच्चों एवं गरीब लोगों के होंगे। इससे मुझे और भी दुख हुआ। उन लोगों ने क्या अपराध किया होगा और किसको क्या हानि पहुँचायी होगी? इस जघन्य अपराध के पीड़ितों एवं इसके अपराधकर्ताओं, दोनों के लिए अत्यंत द्रवित हो कर मैंने रुक कर प्रार्थना की - कि ऐसी घटना फिर कभी न हो। यह जानकर कि जैसे हम लोगों में औरों के हित के लिए बिना स्वार्थ के कार्य करने की क्षमता है, वैसे ही हम सभी में हत्यारे एवं अत्याचारी बनने की भी क्षमता है, मैंने प्रतिज्ञा की कि मैं कभी ऐसे विनाश में कोई योगदान नहीं करूँगा।

[1]

आउशवित्ज़ में जैसी घटना घटी वह हमें प्रबल रूप से याद दिलाती है कि क्या होता है जब व्यक्ति--इससे बढ़कर पुरा समाज--मूलभूत मानवीय भावनाओं को खो बैठता है। यद्यपि यह आवश्यक है कि विधि निर्माण एवं अंतर्राष्ट्रीय समिति भविष्य में ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए स्थापित हों, हम सभी ने देखा कि इन सब के बावजूद ऐसे अत्याचार होते रहते हैं। विधि निर्माण से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण एवं प्रभाशाली है हमारा साधारण मानवीय स्तर पर दूसरों की भावनाओं के लिए सम्मान रखना।

[2]

जब मैं मानव की मूलभूत भावनाओं की बात करता हूँ मैं सिर्फ किसी चपल एवं धुंधली सी चीज के बारे में नहीं सोच रहा हूँ। मैं हम सभी में एक दूसरे से सहानुभूति रखने की क्षमता की ओर संकेत कर रहा हूँ, जिसे हम तिब्बती में शेन दुग ङ्ल वा ला मी सो पा कहते हैं । शब्दशः इसका अनुवाद है--"दूसरों के दु:ख के दृश्य को सहने की अक्षमता।" क्योंकि अनुभूति की यही क्षमता हमें

औरों के कष्ट को समझने में और कुछ हद तक हमें सहानुभूति प्रकट करने के योग्य बनाती है, यह हमारी सबसे महत्वपूर्ण विशिष्टताओं में से एक है । यही है जो हमें किसी की मदद की गुहार को सुन कर चल पड़ने के लिए विवश करती है, दूसरों की क्षति होते देखने पर हमें झटका देती है, दूसरों की पीड़ा देख कर हमें पीड़ा का अनुभव कराती है एवं यही है जो हमें अपनी आँखों को बंद करने के लिए विवश करती है, जब हम दूसरों की व्यथा को अनदेखा करना चाहते हैं।

[3]

जरा सोचिये कि आप एक सुनसान मार्ग पर चल रहे हैं जिस पर आपके अलावा एक वृद्ध व्यक्ति है। अचानक वह व्यक्ति लड़खड़ा कर गिर जाता है । ऐसे में आप क्या करेंगे? मुझे कोई शंका नहीं है कि अधिकांश पाठकगण जाकर देखेंगे कि वे क्या सहायता कर सकते हैं । सभी शायद ऐसा नहीं करेंगे। यह स्वीकार करना कि शायद सभी लोग कठिनाई से घिरे हुए अन्य व्यक्ति की सहायता करने के लिए तत्पर नहीं होते हैं से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि उन कुछ अपवादों में सहानुभूति की क्षमता, जिसे मैंने वैश्वीय कहा है, का पूर्णतया अभाव है । जिन्होंने सहायता नहीं की ऐसे व्यक्तियों में भी, क्षीण ही सही, किन्तु निश्चय ही वही सहानुभूति होगी, जो अधिकांश लोगों को सहायता करने के लिए प्रेरित करती है। निश्चय ही यह सम्भव है कि वर्षों से युद्ध वाली स्थति में फँसे लोग दूसरों के दु:ख को देख कर द्रवित न होते हों । ऐसा उन लोगो के साथ हो सकता है जो हिंसा एवं औरों के प्रति उपेक्षा वाले वातावरण में रहते हैं। यह भी कल्पना करना सम्भव है कि ऐसे भी लोग हैं जो दूसरों की पीड़ा को देखकर प्रसन्न होते हैं। फिर भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ऐसे लोगों में सहानुभूति की क्षमता ही नहीं है। शायद कुछ मानसिक रोग से ग्रस्त लोगों को छोड़ कर, हम सभी मैत्री के व्यवहार से प्रसन्न होते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि हम भले ही कितने कठोर हो जाएँ, सहानुभूति की क्षमता हममें विद्यमान रहती है ।

[4]

मेरी यह धारणा है कि दूसरों के कष्ट के प्रति सहानुभूति रखने की विशिष्टता, हमारी “दूसरों के दु:ख को देखने की अक्षमता” को दर्शाती है। मैं ऐसा इसलिए कहता हूँ क्योंकि हम अपने सम्पूर्ण जीवन में पाते हैं कि हमारी दूसरों के प्रति सहानुभूति की क्षमता के साथ साथ हमें औरों की कृपा की भी जरुरत होती है । यह सिर्फ हमारे बचपन और वृद्धावस्था से ही स्पष्ट नहीं होता है बल्कि

युवावस्था में भी रोगग्रस्त होने पर हमें इस बात का एहसास होता है कि औरों का स्नेह हमारे लिए कितना महत्वपूर्ण हैं । हालाँकि औरों के स्नेह के बिना जीवन भले भी देखने में विशेष लगे, वास्तव में बिना इस अमूल्य अंश के जीवन निश्चय ही दयनीय है । निश्चय ही यह संयोग नहीं कि अधिकांश अपराधियों का जीवन एकाकी और स्नेहविहीन होता है।

[5]

इस करुणा की प्रशंसा का भाव हम दूसरों की मुस्कराहट पर व्यक्त अपनी प्रतिक्रिया में पाते हैं । मेरे लिए, मनुष्य की मुस्कुराने की क्षमता सबसे सुन्दर विशिष्टताओं में से एक है । यह क्षमता किसी पशु में नहीं है । कुत्ते, व्हेल, डॉलफिन आदि जीव जो सभी काफी बुद्धिमान जीव हैं एवं उनमे मनुष्यों के लिए स्पष्ट रूप से स्नेह भी होता है किन्तु इनमें से कोई हमारी तरह मुस्कुरा नहीं सकता । स्वयं मुझे तब थोड़ा कौतुहल होता है जब मैं किसी की ओर देखकर मुस्कुराता हूँ लेकिन वह व्यक्ति गम्भीर रहते हैं एवं उनमें कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है । किन्तु जब कोई मेरी मुस्कराने की प्रतिक्रिया में मुस्कुराता है तो मेरा हृदय हर्षित हो जाता है । ऐसे लोग भी जिनसे मेरा कुछ लेना देना नहीं होता है, जब वह मेरी दिशा में मुस्कुराते हैं तो मैं भाव विभोर हो जाता हूँ । लेकिन क्यों? इसका उत्तर निश्चय ही यह है की सच्ची मुस्कान हमारी मूलभूत भावना को छू जाती है, जो मैत्री के प्रति हमारी स्वाभाविक सराहना है।

[6]

ऐसी धारणाओं के बावजूद कि मनुष्य का स्वभाव मूलरूप से हिंसक एवं स्पर्धा वाला है, मेरी अपनी धारणा है कि हमारी स्नेह एवं प्रेम की सराहना की प्रवृत्ति इतनी गंभीर है कि यह हमारे जन्म से भी पहले शुरू हो जाती है । वास्तव में, मेरे कुछ वैज्ञानिक मित्रों के अनुसार, इसका सुदृढ़ प्रमाण है कि माता की मानसिक एवं भावात्मक स्थिति का गर्भस्थ शिशु के स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है, अगर माता स्नेहिल एवं शांत मनःस्थिति बनाये रहे तो शिशु को लाभ होता है। प्रसन्न माता प्रसन्न शिशु को जन्म देती है । दूसरी तरफ, क्षोभ एवं क्रोध बच्चे के स्वस्थ विकास के लिए हानि कारक होता है। वैसे ही जन्म के बाद आरंभिक कुछ सप्ताह में, स्नेह एवं कोमलता नवजात शिशु के शारीरिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । जीवन की इस अवस्था में नवजात शिशु के मस्तिष्क का द्रुतगति से विकास होता है, जो एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके बारे में

चिकित्सिक मानते हैं कि माता या माता की जगह किसी और के लगातार स्पर्श से इसमें सहायता मिलती है। यह दर्शाती है कि भले ही शिशु को इस बात का ज्ञान न हो कि कौन क्या है, उसके लिए शारीरिक स्नेह की स्पष्ट आवश्यकता है। शायद, यह इसे भी समझाता है कि अत्यधिक झगड़ालू, उत्तेजित, एवं अत्यधिक शंकालु व्यक्ति भी दूसरों के स्नेह एवं प्रेम के प्रति सकारात्मक प्रतिक्रिया करते हैं। नवजात शिशु के रूप में निश्चय ही किसी ने उन लोगों का पोषण किया होगा। अगर किसी नवजात शिशु की ऐसे नाज़ुक समय में कोई देखभाल नहीं करे तो उस शिशु का बचना असम्भव है।

[7]

सौभाग्य से ऐसा विरले ही होता है । सर्वदा बिना अपवाद के माता का पहला कार्य अपने बच्चे को पोषक दूध पिलाने का होता है, जो एक ऐसी क्रिया है, जिसे मैं बेशर्त स्नेह का प्रतीक समझता हूँ । माता का स्नेह सच्चा एवं बिना जबाबी लाभ की अपेक्षा के होता है। इस स्नेह के बदले में वह कुछ भी अपेक्षा नहीं रखती है। जहाँ तक बच्चे का प्रश्न है, वह माता के वक्ष की ओर स्वाभाविक रूप से आकर्षित होता है। ऐसा क्यों है ? इसके उत्तर में हम लोग मनुष्य की जिजीविषा की बात कर सकते हैं । इसके अलावा यह अनुमान लगाना उचित है कि शिशु के मन में अपनी माता के प्रति कुछ मात्रा में स्वाभाविक स्नेह है। अगर शिशु को माता से द्वेष होता तो वह माता का दूध नहीं पीता एवं, अगर माता के मन में शिशु के प्रति द्वेष होता तो यह संदेहास्पद है कि उसके स्तनों से दूध की धारा खुल कर बहती। इसके बजाय हम देखते हैं, माता एवं शिशु के बीच परस्पर स्नेहशीलता एवं सहृदयता पर आधारित यह सम्बन्ध पूर्णतया सहज है। यह किसी से सीखा हुआ नहीं है, कोई धर्म इसकी मांग नहीं करता है, कोई कानून इसे नहीं थोपता है, किसी विद्यालय में इसकी शिक्षा नहीं दी जाती है, यह स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है।

[8]

माता के हृदय में अपने बच्चे के लिए सहज स्नेह - जो हम बहुत से पशुओं में भी पाते हैं - महत्वपूर्ण है क्योंकि यह दर्शाता है कि बच्चे के जीवित रहने के लिए मूलभूत स्नेह की आवश्यकता के साथ माता में स्नेह देने की स्वाभाविक क्षमता है । यह मूलभूत स्नेह इतना शक्तिशाली है कि हम इसे प्रायः जैविक प्रक्रिया की गतिविधि मानने लगते हैं। अवश्य ही कोई यह तर्क कर सकते हैं कि यह

पारस्परिक स्नेह सिर्फ जीवित रखने की एक प्रक्रिया मात्र है। सम्भव है कि ऐसा हो। लेकिन यह इस स्नेह के अस्तित्व को नकारता नहीं है, न ही यह मेरी इस धारणा को झुठलाता है कि हमारी स्नेह की यह आवश्यकता एवं क्षमता यह दर्शाते हैं कि हम वास्तव में प्राकृतिक रुप से स्नेहशील हैं।

[9]

अगर यह असम्भाव्य लगे तो स्नेह एवं हिंसा की ओर हमारी प्रतिक्रिया पर विचार करें। हम सभी हिंसा से भयभीत होते हैं। इसके विपरीत, जब कोई हमारे साथ मैत्री से बर्ताव करता है तो हम विश्वास के साथ प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। ऐसे ही, शांति - जिसे हम स्नेह के फल के रूप में देख चुके हैं - एवं स्वास्थ्य के बीच के सम्बन्ध को देखिये । मेरी समझ के अनुसार, हमारी शारीरिक संरचना हिंसा एवं क्रोध की तुलना में शान्ति एवं मृदुलता के लिए ज्यादा अनुकूल है । हम सभी जानते हैं कि तनाव एवं चिन्ता, उच्च रक्तचाप आदि से अनेक व्याधियां होती हैं। तिब्बती चिकित्सा पद्धति में मानसिक एवं भावनात्मक समस्याएं कैंसर जैसे अनेक रोग, जो आनुवंशिक नहीं हैं, का कारण मानी जाती हैं, तथा शान्ति, मृदुलता एवं स्नेह फिर से स्वस्थ होने के लिए नितान्त आवश्यक माना जाता है। हम शान्ति के लिए एक मूलभूत कामना भी देखते हैं । क्योंकि शान्ति जीवन एवं प्रगति की ओर संकेत करती है, जबकि हिंसा केवल दुर्गति एवं मृत्यु की ओर । इसी कारण से शुद्ध भूमि* अथवा स्वर्ग के विचार हमें आकर्षित करते हैं। अगर ऐसे स्थान का विवरण अंतहीन युद्ध एवं संघर्ष के शब्दों में होता, तो हमलोग इसी दुनिया में रहना ज्यादा अच्छा समझते ।

[10]

ध्यान दें कि हम जीवन की प्रक्रिया की ओर प्रतिक्रिया कैसे करते हैं। जब जाड़े के पश्चात बसन्त आता है, दिन लम्बे होने लगते हैं, ज्यादा धूप होती है, नई घास उगती है तो स्वतः हमारा मन प्रसन्न हो जाता है। दूसरी तरफ जब जाड़े का आगमन होता है, एक एक कर पत्ते झड़ने लगते हैं, हमारे आस पास के अधिकांश पेड़ पौधे मृतप्राय हो जाते हैं, ऐसे समय में हमारा थोड़ा उदास रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । ये प्रतिक्रियायें दर्शाती हैं कि हमारा स्वभाव जीवन को मृत्यु की तुलना में, प्रगति को क्षय की तुलना में, निर्माण को विनाश की तुलना में श्रेष्ठ समझती है।

[11]

बच्चों के व्यवहार को भी देखिए। सीखे हुए विचारों से ढक जाने से पहले हम उनमें मनुष्य का स्वाभाविक चरित्र पाते हैं। छोटे बच्चे एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अन्तर नहीं करते हैं। वे सामने के व्यक्ति की मुस्कान को किसी और बात से ज्यादा महत्त्व देते हैं। जब बच्चे थोड़ा बड़े होने लगते हैं तब भी उनमें जाति, धर्म, नागरिकता, अथवा पारिवारिक पृष्ठभूमि के भेद भाव को जानने में ज्यादा रुचि नहीं होती है। जब वे अन्य बच्चों से मिलते हैं वे ऐसी बातों पर वार्तालाप नहीं करते हैं। वे तुरन्त महत्वपूर्ण कार्य खेलने में लग जाते हैं। यह कोरी भावुकता की बात नहीं है। जब भी मैं यूरोप के उन विद्यालयों को देखने जाता हूँ, जहाँ १९६० से बहुत सारे तिब्बती शरणार्थी बच्चों को शिक्षा मिल रही है, तो मैं इस वास्तविकता को देखता हूँ। इन विद्यालयों की स्थापना राष्ट्रों के बीच युद्ध के परिणाम से अनाथ हुए बच्चों का पोषण करने के लिए की गई थी। विभिन्न परिस्थितियों से आने के बावज़ूद, इन बच्चों को एक साथ रख दिया गया है और ये बच्चे एक दूसरे के साथ पूर्ण सौहार्द् पूर्वक रह रहे हैं, इसे देख कर किसी को विशेष आश्चर्य नहीं होता है।

[12]

अब आपत्ति की जा सकती है कि भले हम सभी में स्नेह एवं मैत्री की क्षमता है, परन्तु मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि निश्चित रूप से हम इसे अपने निकटतम लोगों के लिए बचा कर रखते हैं। हम अपने परिवार एवं मित्रों के प्रति पक्षपात करते हैं। अपने दायरे के बाहर के लोगों के लिए हमारी हित की कामना व्यक्तिगत परिस्थिति पर निर्भर करती है: जो भयभीत हैं, उनमें ऐसे व्यक्ति, जो उन्हें परेशान करते हैं, के प्रति स्नेह एवं मैत्री होने की सम्भावना काफी कम है। यह सब सत्य है। औरों के हित की कामना करने की हमारी जो भी क्षमता हो किन्तु मैं इससे इनकार नहीं करता कि, जब हमारा अस्तित्व खतरे में हो तब आत्मरक्षा की प्रवृत्ति से पार पाना इस क्षमता के लिए शायद संभव हो लेकिन ऐसा विरले ही होता है। फिर भी, इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे भीतर औरों के हित की कामना की क्षमता विद्यमान नहीं है, या इसका सामर्थ्य नहीं है। फ़ौज़ी जवान भी लड़ाई के बाद शत्रु को अपने घायल एवं मृत बंधुओं को उठाने में सहायता करते हैं।

[13]

मैंने व्यक्ति के मूलभूत स्वभाव के बारे में जो भी कहा है, उससे मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि इसमें कोई नकारात्मक पहलू नहीं है। जहाँ चित्त है, वहां द्वेष, अविद्या, एवं हिंसा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। यद्यपि हमारे स्वभाव में करुणा एवं मैत्री की स्वाभाविक प्रवृति है, हममें निर्दयता एवं द्वेष की भी क्षमता है । इसी कारण से हमें अपने व्यवहार को सुधारने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इससे स्पष्ट होता है कि कैसे कोई व्यक्ति बिलकुल अहिंसक वातावरण में पलकर भयानक कसाई बन सकता है। इस सिलसिले में मैं कुछ वर्ष पहले की अपनी वाशिंगटन स्मारक की यात्रा का स्मरण करता हूँ जो नाज़ियों के द्वारा यहूदियों के नरसंहार में शहीद एवं वीर लोगों को समर्पित है। यहाँ जिस बात ने मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित किया वह था मनुष्य के विभिन्न व्यवहारों का एक साथ सूची प्रस्तुत किया होना। एक तरफ उन पीड़ितों के नामों की सूची थी, जिन्होंने अकथनीय अत्याचार सहे तथा दूसरी तरफ, उन ईसाई परिवार एवं अन्य लोगों के नाम की सूची थी, जिन्होंने जानबुझ कर भयानक खतरा मोल लेते हुए वीरता पूर्वक दयालुता के साथ अपने यहूदी भाई बहनों को बचाया। ये सूचियाँ देखकर मुझे यह बताना बिलकुल उचित एवं आवश्यक प्रतीत हुआ, जिससे मानवता के सामर्थ्य के दो पक्ष प्रदर्शित हुए: सकारात्मक और नकारात्मक।

[14]

लेकिन नकारात्मक सामर्थ्य का होना हमें यह मानने का आधार नहीं देता है कि मनुष्य स्वभावतः हिंसक है, या निश्चय ही हिंसा की तरफ झुकाव वाला है । इस धारणा के प्रचलन का एक बड़ा कारण समाचारों में लगातार बुरी खबरों का ही मिलना हो सकता है, और बुरी खबरों का ही मिलना शायद इसलिए कि अच्छी खबरें समाचार नहीं बनती हैं।

[15]

यह कहना कि मनुष्य का मूलभूत स्वभाव न केवल अहिंसक है, बल्कि इसके स्वभाव में स्नेह एवं करुणा, दया, मृदुलता, प्रेम, सृजनशीलता इत्यादि है। इस का तात्पर्य अवश्य ही इस सामान्य सिद्धान्त से है जिसकी परिभाषा के अनुसार यह बात प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होनी चाहिए। तब हम उन व्यक्तियों के बारे में क्या कहेंगे जो पूर्ण रूप से हिंसा एवं अत्याचार में लिप्त हैं? पिछली शताब्दी में ही हमारे सामने ऐसे कई स्पष्ट उदाहारण रहे हैं। हिटलर एवं उसकी सम्पूर्ण यहूदी जाति के संहार की योजना के बारे में क्या कहेंगे? स्टालिन एवं

उसकी सामूहिक हत्या के अभियान के बारे में क्या कहेंगे? चीन के अध्यक्ष माओ, जिन्हें मैं कभी जानता था और जिनकी प्रशंसा करता था, उनकी सांस्कृतिक क्रान्ति के नाम पर बर्बरता वाले पागलपन के बारे में हम क्या कहेंगे? इंडोनेशिया की असंख्य हत्याओं के कर्ता धर्ता पोल पोट के बारे में क्या कहेंगे? और ऐसे लोग जो आनन्द के लिए क्रूरता एवं हत्या करते हैं, उनके बारे में क्या कहेंगे?

[16]

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि उनके अमानवीय कृत्यों को समझाने के लिए मैं किसी एक मूल कारण को लेकर नहीं सोच सकता हूँ। फिर भी हमें दो बातें समझनी चाहिये। सर्वप्रथम, ऐसे व्यक्ति आसमान से टपकते नहीं हैं, बल्कि वे विशेष समाज में, विशेष काल में, विशेष परिस्थिति में पैदा होते हैं। हमें उनके कृत्यों को उनकी परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखना चाहिये। दूसरे हमें यह देखना चाहिये कि उनकी कल्पनाओं की शक्ति ने उनके इन कार्यों में क्या भूमिकाएं निभाई हैं। उनकी योजनाओं एवं कार्यों का निष्पादन उनकी अत्यंत विकृत कल्पनाओं के अनुसार ही हुआ था एवं हो रहा है। उन्होंने जो दु:ख दिये, उसका कोई औचित्य नहीं है, भले ही उनकी जो भी सफाई हो एवं चाहे जो अच्छे उद्देश्य की ओर संकेत करें, हिटलर, स्टालिन, माओ और पोल पॉट, हर एक अपने लक्ष्य के लिए कार्य कर रहे थे। अगर हम उनके कार्यों का विश्लेषण करें जो मनुष्य ही कर सकता है, एवं पशु नहीं कर सकते हैं, तो हम पाते हैं कि यही कल्पना शक्ति अहम भूमिका निभाती है। मनुष्य की कल्पना करने की क्षमता एक अनोखी संपत्ति है। लेकिन इसका प्रयोग जिसके लिए होता है वह निर्धारण करता है कि कौन संकल्पित क्रिया अच्छी हैं या बुरी, नैतिक है या अनैतिक। इसलिए व्यक्ति की प्रेरणा(कुन-लॉङ्) नियंत्रक तत्व बनता है। जहाँ तक कल्पना का प्रश्न है, अगर उसके पीछे की प्रेरणा उचित है - जो दूसरों के सुख की प्राप्ति एवं दु:ख के निवारण के लिए समान अधिकार की अपेक्षा का आदर करती है - तो वह चमत्कार की ओर ले जा सकती है, किन्तु जब वही मनुष्य की मूलभूत भावनाओं से अलग हो जाती है, तब हम इसकी विनाशक क्षमता का अनुमान भी नहीं लगा सकते हैं।

[17]

ऐसे व्यक्तियों के लिए जो आनन्द के लिए, या उनसे भी बुरे, बिना किसी कारणवश हत्या करते हैं, हम सिर्फ कल्पना कर सकते हैं कि उनके अन्दर औरों के लिए स्नेह एवं कल्याण की भावना काफी दब गयी होती है। फिर भी इसका मतलब यह नहीं है कि यह पूर्ण रूप से लुप्त हो चुकी होती है । जैसा कि मैंने पहले कहा है, शायद सबसे दुर्दान्त मामलों को छोड़ कर, यह कल्पना करना संभव है कि ऐसे भी व्यक्तियों को दूसरों से स्नेह मिलना अच्छा लगता हो। उनमें भी यह प्रवृत्ति विद्यमान रहती हो ।

[18]

वास्तव में, पाठकों को मेरी यह बात मानने की जरुरत नहीं है कि मनुष्य के स्वभाव का रुझान निश्चय ही स्नेह एवं करुणा की ओर है। इससे हम देख सकते हैं कि जब नैतिकता का प्रश्न होता है, तब सहानुभूति की क्षमता मनुष्य के स्वभाव के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। जैसा कि हमने पहले देखा, नैतिक आचरण हानिकारक नहीं होता है। लेकिन हम यह कैसे निश्चय कर सकते हैं कि कोई कार्य अवश्य ही हानिकारक नहीं है? हम देखते हैं कि व्यवहार में यदि हम दूसरों से कुछ हद तक जुड़ नहीं पाते हैं, अगर हम अपने कार्य के औरों पर हो सकने वाले प्रभाव की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं, तो फिर हमारे पास अच्छाई एवं बुराई के बीच, उचित एवं अनुचित के बीच, एवं हितकारी अहितकारी कार्यों के बीच भेद करने का कोई साधन नहीं होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अगर हम इस क्षमता की वृद्धि कर सकें--अन्य शब्दों में, हमारे भीतर औरों के दु:ख के प्रति संवेदनशीलता-- जितनी ज्यादा होगी, उतना ही हम औरों के दु:ख को कम सहन कर पायेंगे और हम उतना ही सावधान होंगे कि हमारे किसी भी कार्य से दूसरों को हानि न हो।

[19]

सहानुभूति की क्षमता के स्वभाव को देखने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि हम वास्तव में दूसरों के प्रति अपनी सहानुभूति की क्षमता बढ़ा सकते हैं। हम इसे मुख्य रूप से वेदना के रूप में अनुभव करते हैं। इसके साथ ही जैसा कि हम सभी जानते हैं, ज्यादा या कम हम तर्क से न तो सिर्फ अपनी भावनाओं पर रोक लगा सकते हैं, बल्कि हम उन्हें बढ़ा भी सकते हैं। जैसे कि नई कार की कामना कल्पना में बार बार निहारने से बढ़ती है। ऐसे ही, जब हम अपनी मानसिक शक्ति को सहानुभूति की भावना की ओर मोड़ते हैं तो हम पाते हैं कि

न सिर्फ हम उनकी वृद्धि कर सकते हैं, बल्कि हम उन्हें करुणा एवं स्नेह में भी परिवर्तित कर सकते हैं।

[20]

इस तरह हमारी जन्मजात सहानुभूति की क्षमता मानवता के सबसे अमूल्य गुण का स्रोत है जिसे हम तिब्बती भाषा में ञिङ्-जे कहते हैं। भले ही इसका सामान्य अंग्रेजी अनुवाद "कम्पैशन*" (फुटनोट: यहाँ परम पावन दलाई लामा जी का कहना है कि यद्यपि ञिङ्-जे के अनुवाद के लिए कम्पैशन शब्द का प्रयोग किया जाता है तथापि कम्पैशन से ञिङ्-जे पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं हो पाता है। करुणा एवं ञिङ्-जे में इस प्रकार की कठिनाई नहीं है ञिङ्-जे शब्द का अर्थ बहुत समृद्ध है जिसे कम शब्दों में व्यक्त करना कठिन है, यद्यपि इसमें निहित भाव विश्वव्यापी हैं। इससे सौहार्द्रता, स्नेह, कृपा, मृदुलता, उदारता, एवं सहृदयता व्यक्त होती है। इसका प्रयोग सहानुभूति एवं प्रीति, दोनों के लिए होता है। दूसरी ओर, इसका तात्पर्य "दया" नहीं है जो कि अंग्रेजी शब्द कम्पैशन से हो सकता है। इसमें तिरस्कार वाली कृपा का कोई भाव नहीं है। इसके विपरीत, ञिङ्-जे औरों के साथ सम्बन्ध की भावना व्यक्त करता है जो दर्शाता है कि इसकी उत्पत्ति सहानुभूति से हुई है। इस प्रकार से हम भले ही कह सकते हैं, "मैं अपने घर से प्रेम रखता हूँ" अथवा "मेरे अंदर इस स्थान के लिए लगाव की प्रबल भावना है," किन्तु हम यह नहीं कह सकते हैं कि, "हमें इन के प्रति करुणा है।" क्योंकि इन में स्वयं कोई सवेंदनशीलता नहीं है, हम इनसे सहानुभूति नहीं कर सकते । इसी कारणवश हम इनके लिए करुणा की बात नहीं कर सकते हैं।

[21]

यद्यपि ञिङ्-जे, अथवा स्नेह एवं करुणा के विवरण से यह स्पष्ट है कि हम इसे एक भावना के रूप में समझते हैं, यह एक ऐसी भावनाओं के वर्ग के अंतर्गत है जिनमे संज्ञानात्मक अंश अधिक विकसित हैं। कुछ भावनाएँ, जैसे खून को देख कर विकर्षण अनुभव करना, वस्तुतः सहज है। अन्य भावनाएं, जैसे निर्धन हो जाने का भय, में विकसित संज्ञानात्मक भाग है। इस प्रकार से हम ञिङ्-जे को सहानुभूति एवं समझदारी का सम्मिलित रूप समझ सकते हैं । हम सहानुभूति को एक बहुत ईमानदार व्यक्ति के लक्षण के रूप में देख सकते हैं तथा समझदारी को ऐसे व्यक्ति का लक्षण जो अत्यंत व्यावहारिक हो। जब हम इन

दोनों लक्षणों को साथ मिलाते हैं तो यह मिश्रण अत्यधिक प्रभावशाली होता है। इस प्रकार, ञिङ्-जे क्रोध एवं वासना जैसे निरर्थक भावों से बिलकुल भिन्न है, जो हमें सुख देना तो दूर, हमें केवल कष्ट ही देता है और हमारी मानसिक शान्ति का विनाश करता है।

[22]

यह मेरे लिए स्पष्ट करता है कि लगातार प्रयास करने, निरंतर करुणा का मनन करने और भावना रखने से हम दूसरों से जुड़ने के लिए अपनी सहज क्षमता का विकास कर सकते हैं। यह एक तथ्य है जो उस नैतिकता के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है जिसकी मैंने व्याख्या की है । हम जितना करुणा का विकास करेंगे, हमारा व्यवहार उतना ही सच्चे रूप में नैतिक होगा ।

[23]

जैसा कि हमने देखा है, जब हम औरों के हित को ध्यान में रख कर कार्य करते हैं तब हमारा व्यवहार उनके प्रति स्वतः सकारात्मक हो जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जब हमारा हृदय स्नेह से भरा हुआ होता है तो उसमें शंका का कोई स्थान नहीं होता है । ऐसा लगता है जैसे अंदर का कोई द्वार खुल गया हो, जिससे हम बाहर पहुँच सकते हैं। दूसरों के कल्याण के बारे में सोचने से वे सारी दीवारें टूट जाती हैं जो औरों के साथ स्वस्थ सम्बन्ध बनाने में बाधा डालती हैं और सिर्फ इतना ही नहीं। जब हमारी मंशा औरों के लिए अच्छी होती है तो हम पाते हैं कि हमारे अंदर की लज्जा अथवा असुरक्षा की भावना काफी कम हो जाती है इस हद तक कि हम अन्दर के द्वार को खोल कर हम अपनी स्वार्थ तल्लीन आदत से मुक्ति पा लेते हैं। विडम्बना यह है कि इससे हमारे अंदर प्रबल आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न होती है। अगर मैं अपने एक अनुभव का उदाहरण दूँ, तो मैं पाता हूँ कि जब भी मैं नए लोगों से इस सकारात्मक भावना के साथ मिलता हूँ तो हमारे मध्य कोई दीवार नहीं होती है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि वे कौन हैं अथवा क्या हैं, उनके बाल सुनहरे हैं या काले हैं, या हरे रंग से रंगे हुए हैं। मैं अनुभव करता हूँ कि मैं एक साथी मानव से मिल रहा हूँ जिसकी सुखी रहने की कामना एवं दुःख से दूर रहने की कामना वही है जो मुझ में है और मैं पाता हूँ कि मैं उनसे पहली मुलाकात में भी पुराने मित्र की तरह वार्तालाप कर सकता हूँ । इस बात को दिमाग में रख कर--कि मूलतः हम सभी एक दूसरे के भाई एवं बहन हैं, कि हमारे बीच कोई विशेष भेद नहीं है, कि

बिलकुल जैसे मैं चाहता हूँ, बाकी लोग भी बिलकुल मेरी ही तरह सुखी रहना चाहते हैं और दु:ख से दूर रहना चाहते हैं--मैं अपनी भावनाओं को किसी भी व्यक्ति के सामने हृदय से खुलकर व्यक्त कर सकता हूँ मानों उन्हें वर्षों से घनिष्टता से जानता हूँ। यह होता है न सिर्फ कुछ अच्छे शब्द अथवा मुद्रा से, बल्कि हृदय से हृदय का संपर्क होता है, चाहे भाषा का व्यवधान जो भी हो।

[24]

हम यह भी पाते हैं कि जब हम दूसरों के हित को ध्यान में रखकर कार्य करते हैं तो इससे जो शांति हमारे हृदय में उत्पन्न होती है उससे उन सभी लोगों को शान्ति मिलती है जो हमारे साथ जुड़े होते हैं। इस तरह हम अपने परिवार को, अपने मित्रों को, अपने सहकर्मियों को, अपने समुदाय को, एवं इस प्रकार से विश्व के लिए शान्ति लाते हैं। फिर कोई इस गुण का विकास क्यों नहीं करना चाहेगा? सभी को शान्ति एवं सुख प्रदान करने से ज्यादा उत्तम क्या हो सकता है? मेरे दृष्टि में हम सब मनुष्यों में करुणा एवं मैत्री का गुणगान करने की यह क्षमता ही हमारी सबसे महत्वपूर्ण देन है।

[25]

इसके विपरीत, सबसे शंकाशील पाठक भी यह नहीं मानेंगे कि आक्रामक एवं दूसरों का ख्याल नहीं करने वाले, अन्य शब्दों में, अनैतिक आचार के परिणाम स्वरूप शांति उत्पन्न हो सकती है । अवश्य ही ऐसा नहीं हो सकता है। मुझे अच्छी तरह याद है यह शिक्षा मुझे कैसे मिली जब मैं तिब्बत में एक छोटा बालक था। मेरे एक सहायक खेनरब तेनज़िन ने एक छोटे से तोते को पालतू बनाया था जिसे वह बादाम खिलाते थे। यद्यपि वह थोड़े कड़क मिज़ाज के व्यक्ति थे, उनकी आँखें उभरी हुई थीं, और उनका व्यकित्व थोड़ा डरावना था, वह तोता उनके पदचाप से या खँखारने की आवाज़ सुनकर उत्साहित हो जाता था। जब वह पक्षी उनकी उँगलियों से खा रहा होता तो खेनरब तेनज़िन उसका सर थपथपाते थे जिससे वह पक्षी अत्यन्त प्रसन्न हो जाता था। मुझे उनके बीच यह सम्बन्ध देखकर काफी ईर्ष्या होती थी एवं मैं चाहता था की वह तोता मेरी ओर भी ऐसा ही लगाव दिखाये। लेकिन जब भी मैंने उसे खिलाने का प्रयास किया, मुझे उससे अच्छा उत्तर नहीं मिला। इसलिए मैंने उसे लकड़ी से छेड़ने की चेष्टा की जिससे कि वह मेरे साथ अच्छा व्यवहार करे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरे ऐसे प्रयास का परिणाम पूर्णतया नकारात्मक हुआ।

मेरी ओर से जबरदस्ती अच्छा बर्ताव कराने की बात तो दूर, वह पंछी मुझसे भयभीत हो गया और हमारे बीच मैत्री पूर्ण सम्बन्ध की जो भी थोड़ी सम्भावना थी, उसका शायद पूर्णतया विनाश हो गया। इससे मैंने सीखा कि मित्रता डराने धमकाने से नहीं, बल्कि करुणा से होती है।

[26]

क्योंकि हमारी यह मूलभूत अवधारणा कि नैतिक व्यवहार का अर्थ है हम औरों की हानि न करें, इसका निष्कर्ष यह होता है कि हमें दूसरों की भावनाओं का आदर करना चाहिये जिसका आधार है हमारी स्वाभाविक सहानुभूति की क्षमता। जैसे जैसे हम करुणा में अवरोध करने वाले तत्वों से रक्षा करते हैं और करुणा के विकास में सहायक तत्वों का विकास करते हैं, वैसे वैसे हम अपनी इस क्षमता को स्नेह एवं करुणा में बदलने में सफल होते हैं एवं हमारी नैतिकता के अनुशीलन में वृद्धि होती है। हम पाते हैं कि यही हमें एवं दूसरों को सुख देता है।

[27]

मनन योग्य प्रश्न

१. लेखक की सोच में “सहानुभूति की क्षमता” क्या है?

२. लेखक “स्नेह की प्रशंसा” के बारे में क्या सोचते हैं?

३. लेखक ऐसा क्यों सोचते हैं कि मनुष्य का स्वभाव नैसर्गिक रूप से हिंसक नहीं है?

४. दूसरों के दुःख की ओर संवेदनशीलता बढ़ाने के लिए लेखक का क्या सुझाव है?

५. तिब्बती शब्द “ ञिङ्-जे” का अर्थ क्या है?

अध्याय ६ - संयम की नैतिकता

मैंने सुझाव दिया है कि करुणा के विकास, जिस पर सुख निर्भर करता है, के लिए दो तरह के प्रयासों की आवश्यकता है। प्रथमतः हमें उन तत्वों पर नियन्त्रण करने की आवश्यकता है, जो करुणा की उत्पत्ति में बाधा डालते हैं तथा दूसरी तरफ हमें उन तत्वों की वृद्धि करनी होती है जो करुणा के विकास में सहायक होते हैं। जैसा कि हमने देखा है स्नेह, धैर्य, सहिष्णुता, क्षमाशीलता, विनम्रता आदि करुणा के विकास में सहायक होते हैं। स्वयं पर संयम की कमी होना करुणा की उत्पत्ति में अवरोध करता है, जिसे हम सारे अनैतिक व्यवहार की जड़ मानते हैं । हम पाते हैं कि अपनी आदतों एवं प्रवृत्तियों में परिवर्तन लाकर हम अपने हृदय एवं चित्त (कुन लोङ) की अवस्था को उत्कृष्ट बनाने का कार्य आरम्भ कर सकते हैं--जहाँ से हमारे सारे कर्म उत्पन्न होते हैं।

[1]

क्योंकि आध्यात्मिक गुण, जिनसे करुणा उपजती है, के फलस्वरूप नैतिक आचरण होता है, इसलिए सर्वप्रथम हमें आंतरिक अनुशासन की आदत बनाने के लिए अभ्यास करना होगा। मैं इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकता हूँ कि यह एक वृहत कार्य है, लेकिन कम से कम हम लोग इस सिद्धान्त से परिचित हैं । उदाहरण के लिए, नशे के विनाशकारी परिणाम को जान कर हम स्वयम् एवं अपने बच्चों पर नियन्त्रण कर नशीले पदार्थों के सेवन से दूर रखते हैं। लेकिन, यह जानना महत्वपूर्ण है कि हानिकारक सोच एवं भावनाओं की प्रतिक्रियाओं पर नियन्त्रण करने का अर्थ उन्हें सिर्फ दबाना नहीं है, बल्कि उनके विनाशकारी स्वभाव की अच्छी समझ जरूरी है। केवल यह कह देना कि ईर्ष्या गलत है, जो एक प्रबल विनाशकारी भावना है, हमें इससे पर्याप्त रक्षा नहीं प्रदान कर सकता है। अगर हम अपने जीवन को सिर्फ बाहरी रूप से व्यवस्थित करें और इसके आन्तरिक आयामों की अवहेलना करेंगे तो अंततः हम शंका, चिंता जैसे क्लेश से ग्रसित हो जाते हैं और हम सुखी नहीं हो पाते हैं । इसका कारण यह है कि शारीरिक अनुशासन के विपरीत सच्चा आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक अनुशासन बलपूर्वक नहीं प्राप्त किया सकता है, यह केवल समझ पर आधारित स्वेच्छापूर्वक जान बूझ कर किए जाने वाले प्रयासों से ही संभव है। दूसरे शब्दों में, हमारा नैतिकतापूर्ण आचरण केवल कानून एवं संवर अर्थात विधियों के पालन से कहीं अधिक है।

[2]

अनुशासनहीन चित्त हाथी की तरह होता है। अगर इसे बिना नियन्त्रण के छोड़ दिया जाये तो यह विनाश करेगा। लेकिन मनुष्य के बुरे आवेग पर नियन्त्रण में असफल होने के कारण जो हम हानि एवं दुःख का सामना करते हैं, वह उस विनाश से अत्यधिक ज्यादा होता है,

जो एक उपद्रवी हाथी कर सकता है । मनुष्य के इन आवेगों में न केवल वस्तुओं के विनाश की क्षमता होती है, बल्कि ये हमारे एवं औरों के लम्बे समय तक के कष्ट का कारण हो सकते हैं। इससे मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य का चित्त (लो) स्वभाव से ही विनाशकारी है। प्रबल नकारात्मक विचार अथवा भावना के प्रभाव में मनुष्य का चित्त शायद एक ही स्वरूप से परिलक्षित दिखे। लेकिन, उदाहरण के लिए, यदि घृणा हमारे चित्त का अपरिवर्तनीय स्वभाव होता, तो अवश्य ही हमारा चित्त हमेशा घृणापूर्ण होता, किन्तु स्पष्ट रूप से यह सत्य नहीं है। चित्त एवं इसके द्वारा जिन कल्पनाओं एवं भावनाओं का अनुभव किया जाता है, के बीच एक महत्वपूर्ण भेद को समझना आवश्यक है।

[3]

ऐसे ही, कभी कोई प्रबल अनुभव भले हम पर हावी हो जाये, लेकिन जब हम बाद में इस पर विचार करते हैं तो इससे हम विचलित नहीं होते हैं। जब मैं छोटा था, तो वर्ष के अन्त में मनाये जाने वाले उत्सव मोनलम-छेन्मो के बारे में सोचकर मैं काफ़ी उत्साहित हो जाता था। मोनलम-छेन्मो एक बड़ा प्रार्थना उत्सव था, जो तिब्बत के नए वर्ष के आरंभिक अवसर पर आयोजित किया जाता था। इसमें दलाई लामा के रूप में मेरी महत्वपूर्ण भूमिका थी, जिसमें मुझे पोटाला से जोखङ् मंदिर, जो तिब्बत के सबसे पावन मंदिरों में से एक था, के कक्षों में जाना होता था। जैसे जैसे उत्सव का दिवस निकट आता था, मैं अपना अधिकतर समय उत्सव में अपनी भूमिका की कल्पना में व्यतीत कर थोड़ा भयभीत एवं थोड़ा प्रफुल्लित होता था, एवं पढ़ाई में कम समय लगाता था। मेरे भय का कारण था उत्सव के दौरान लम्बा वाचन, जो मेरे द्वारा कंठस्थ किया हुआ प्रस्तुत करना होता था, तथा मेरी प्रफुल्लता का कारण था जोखङ् मंदिर के सामने बाज़ार में एकत्रित हुए तीर्थ यात्रियों एवं व्यापारियों की बड़ी भीड़ के बीच से गुजरना। यद्यपि भय एवं प्रफुल्लता दोनों ही उस समय वास्तविक अनुभव थे, पर आज उन्हें याद करके मुझे हंसी आती है। अब मैं भीड़ के सामने होने का अभ्यस्त हूँ एवं इतने वर्षों के अभ्यास के बाद अब मुझे वाचन में भी कोई समस्या नहीं होती है।

[4]

हम अपने चित्त की कल्पना एक सरोवर के जल की तरह कर सकते हैं । जब तूफान के कारण पानी में हलचल होती है, तो सरोवर के तल का कीचड़ पानी को धूमिल कर देता है, जिससे पानी अपारदर्शी दिखता है। किन्तु पानी का स्वभाव मलिन नहीं है । जब तूफान ख़त्म हो जाता है, कीचड़ वापस सरोवर के तल पर जमा हो जाता है तो जल पुनः पारदर्शी हो जाता है । ऐसे ही, यद्यपि हम अपने चित्त अथवा मानस को साधारणतया एवं स्वभावतया अपरिवर्तनशील समझते हैं, लेकिन जब हम गहराई से इसका निरीक्षण करते हैं तो पाते हैं कि इसका अस्तित्व बहुत सारी घटनाओं एवं अनुभवों की श्रृंखला में विद्यमान

है। इसमे हमारे ऐंद्रिय ज्ञान शामिल हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से विषय में प्रवृत होते हैं, एवं हमारे विचार और वेदनाएं शामिल हैं जो भाषा एवं कल्पना के माध्यम से विषय में प्रवृत होते हैं। ये परिवर्तनशील भी हैं। सोच समझ कर तथा प्रयास कर हम अपनी मानसिक एवं भावनात्मक अवस्था में परिवर्तन ला सकते हैं । उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि सान्त्वना एवं आश्वासन से भय को दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार से, जानकारी एवं स्नेह बढ़ाने वाली सलाह व्यक्ति के मानसिक अवनमन को कम करने में सहायक हो सकती है।

[5]

यह पर्यवेक्षण कि भावनाएँ एवं चित्त एक ही चीज़ नहीं हैं, बताता है कि हमें विचारों एवं भावनाओं के नियंत्रण में होने की आवश्यकता नहीं है। हमारे हर कार्य के पहले निश्चय ही कोई मानसिक अथवा भावनात्मक घटना होती है, जिसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया के लिए हम कम या ज्यादा स्वाधीन होते हैं, यद्यपि जब तक हमने अपने मन को अनुशासित करना नहीं सीखा होता है, तब तक इस स्वाधीनता का अभ्यास करना कठिन होता है। पुनः, इन घटनाओं एवं अनुभवों के प्रति हमारी प्रतिक्रिया कैसी होती है, सामान्य शब्दों में वही हमारे कार्यों के नैतिक अंश का निर्धारण करती है। अन्य शब्दों में, अगर हम ऐसा सकारात्मक तरीके से करें, औरों के हित को अपने सामने रख कर, तो हमारे कार्य नैतिक होंगे। अगर हमारी प्रतिक्रिया नकारात्मक होगी, औरों के हित की अवहेलना करने वाली, तो हमारे कार्य नकारात्मक एवं अनैतिक होंगे।

[6]

इस समझ के अनुसार, हम अपने चित्त अथवा मानस को एक ऐसे राष्ट्रपति अथवा राजा के रूप में सोच सकते हैं जो बहुत ही सत्यवादी एवं निष्कलंक हैं। इस दृष्टि के अनुसार हमारे विचार एवं भावनाएँ मंत्रिगण की तरह हैं । इनमें से कुछ अच्छी सलाह देते हैं एवं कुछ गलत । इनमें से कुछ के लिए औरों के कल्याण की कामना सर्वोपरि है एवं कुछ के लिए सिर्फ स्वयं का संकीर्ण स्वार्थ ही सर्वोपरि है । हमारे प्रमुख चित्त --नेता--का उत्तरदायित्व यह निर्धारण करना है कि किस मातहत का सुझाव सही है एवं किसका गलत, उनमें से कौन विश्वसनीय है और कौन नहीं, किसके सुझाव पर कार्य होना चाहिए एवं किसके सुझाव पर नहीं ।

[7]

इस अर्थ में, मानसिक एवं भावुक घटनाएँ जो गलत सलाह देती हैं, उनका विवरण दुःख के रूप में ही किया जा सकता है। निश्चय ही, अगर उन्हें ज्यादा बढ़ने का मौका दिया जाये तो चित्त भावनाओं से विह्वल हो जाता है एवं हम एक आतंरिक झंझावात का अनुभव करते हैं

। इसका शारीरिक आयाम भी है । उदाहरण के लिए क्रोध की अवस्था में हमारा स्वाभाविक संतुलन प्रबल रूप से भंग हो जाता है जो हम अनुभव करते हैं और आस पास के लोग भी भांप जाते हैं। हम प्रायः देखते हैं कि यदि परिवार में एक सदस्य भी बुरे मिजाज का हो तो कैसे पूरे घर का वातावरण दूषित हो जाता है । जब हम क्रोधित होते हैं तो मनुष्य एवं पशु दोनों ही हमसे दूर रहना चाहते हैं । कभी कभी यह विक्षोभ इतना प्रबल होता है कि इसे वश में रखना कठिन होता है । इससे हम दूसरों पर बरस पड़ते हैं । ऐसा करके हम अपने अंदर के विक्षोभ को बाहरी रूप प्रदान करते हैं ।

[8]

मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि हमें कष्ट देने वाले सारे विचार एवं भावनाएँ निश्चय ही बुरी हैं । साधारण भावना एवं शांति भंग करने वाली भावना में मूल भेद करने वाली विशेषता इसके अंदर के नकारात्मक मानसिक अंश हैं । दुःख का एक क्षण हमारे लिए स्थायी शोक तब तक नहीं बनता जब तक हम इसे जकड़ कर न बैठें एवं इसमें गलत विचार एवं कल्पनाएं न जोड़ते जाएँ। तीर्थ यात्रियों एवं व्यापारियों से मुझे अत्यधिक उत्साह का अनुभव होना एवं लम्बे वाचन का भय होना, दोनों के संदर्भ में मूल वेदना के ऊपर एक अतिरिक्त मानसिक अंश था। दिवास्वप्न से बार-बार ग्रस्त होने के कारण मेरी कल्पना ने परिस्थिति की वास्तविकता से कुछ ज्यादा अध्यारोप* किया था । एवं आने वाले उत्सव के बारे में जो कथाएँ मैंने स्वयं को सुनाई थीं, उन्हीं के कारण मेरी मूलभूत शान्ति भंग हो गयी थी ।

[9]

सारे भय बच्चों वाली बात नहीं होते हैं, जैसा मैंने अभी अभी वर्णन किया है। ऐसे अवसर भी होते हैं जब हमें युक्तिसंगत भय का अनुभव होता है। नकारात्मक होने के बावजूद ऐसे भय वास्तव में हमारी सहायता कर सकते हैं। ये हमारी जागरूकता को बढ़ा कर हमें ऊर्जा देते हैं जो हमारी रक्षा के लिए आवश्यक होती है । जब मैं १९५९ में ल्हासा से बच कर निकला था और पहली रात मैं सैनिक के वेश में था, तब मुझे निश्चय ही इस तरह के भय का अनुभव हुआ था। क्योंकि मेरे पास इस भय के लिए न तो समय था और न ही इस सोच की ओर रुझान था । इस भय ने मुझे अधिक विचलित नहीं किया। इसका मुख्य परिणाम यह हुआ कि मैं बहुत सतर्क रहा । कोई कह सकता है कि यह एक ऐसे भय का दृष्टान्त था जो युक्तिसंगत एवं लाभदायक दोनों था ।

[10]

किसी नाज़ुक और कठिन परिस्थिति में अनुभव किये जाने वाले भय को भी उचित माना जा सकता है । यहाँ पर मैं ऐसी स्थिति के बारे सोच रहा हूँ कि हम कैसा अनुभव करते हैं जब हमें कोई निर्णय लेना होता है और हम जानते हैं कि उस निर्णय से औरों के जीवन पर बड़ा

प्रभाव होने वाला है। ऐसे भय हमें थोड़ा विचलित कर सकते हैं। लेकिन सबसे खतरनाक एवं नकारात्मक ऐसा भय होता है जो बिलकुल अनुचित हो एवं हमें अपने वश में लेकर हमें स्तब्ध कर दे।

[11]

तिब्बती में हम ऐसी नकारात्मक भावनागत घटनाओं को ञोन् मोङ्(संस्कृत में क्लेश) कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है "वह जो हमें अंदर से कष्ट देता है," अथवा, जिसका सामान्य अंग्रेजी अनुवाद "अफ़्लिक्टिव इमोशन" किया जाता है। सामान्यतया ऐसी सभी कल्पनाएँ , भावनाएँ एवं मानसिक घटनाएँ जिनसे नकारात्मक अथवा करुणा विहीन मन की स्थिति (कुन लोङ्) दर्शित होती है, वे अवश्य ही हमारी आन्तरिक शान्ति को भंग करती हैं। सारी नकारात्मक कल्पनाएँ एवं भावनाएँ जैसे द्वेष, क्रोध, अहंकार, लिप्सा, लोभ, ईर्ष्या आदि को इस अर्थ में क्लेश माना जाता है। हम पाते हैं कि क्लेशात्मक भावनाएँ इतनी प्रबल होती हैं कि अगर हम उनके प्रतिकार में कुछ नहीं करें, तो ये हमें पागलपन, एवं यहाँ तक कि आत्महत्या तक भी ले जा सकती हैं, यद्यपि ऐसा कोई नहीं है जो अपने जीवन का मूल्य नहीं समझता हो। किन्तु ऐसी चरमसीमा तक हम कदाचित ही पहुँचते हैं, हमें इन नकारात्मक भावनाओं को अपने चित्त के ऐसे अभिन्न भाग की तरह देखने की आदत है, जिनके लिए हम ज्यादा कुछ नहीं कर सकते हैं। इनकी विनाशकारी क्षमता को न जानने के कारण हम उन्हें चुनौती देने की आवश्यकता नहीं समझते हैं । वास्तव में उन पर कार्य करने की अपेक्षा हममें उनका पोषण कर उन्हें और सशक्त बनाने की प्रवृत्ति होती है। हमारी यह प्रवृत्ति उन्हें विकसित होने के लिए भूमि प्रदान करती है । फिर भी, उनका स्वभाव पूर्ण रूप से विनाशकारी है और यही अनैतिक आचरण का स्रोत है। यही चिंता, मानसिक अवनमन, भ्रम एवं तनाव का कारण हैं, जो आज हमारे जीवन के लक्षण हैं।

[12]

ये नकारात्मक कल्पनाएँ एवं भावनायें ही हमारी सबसे मूलभूत कामना--सुखी रहना एवं कष्ट से दूर रहना-- की प्राप्ति में विघ्न डालती हैं। जब हम इनके प्रभाव में कार्य करते हैं तो हम अपने कर्म के औरों पर होने वाले परिणाम को अनदेखा कर जाते हैं, जो इसी कारण वे हमारी स्वयं एवं औरों के लिए विनाशकारी व्यवहार का हेतु बनते हैं । हत्या, अनैतिक आचरण, धोखा, सबके मूल में क्लेशात्मक भावना ही है। इसी कारण से मैं कहता हूँ कि अनुशासनहीन चित्त जो क्रोध, घृणा, लोभ, अहंकार, स्वार्थ इत्यादि के वश में होकर हमारी सारी ऐसी समस्याओं का स्रोत बन जाता है जो उन दुखों के वर्ग में नहीं आती हैं जिनसे बचना संभव नहीं है (रोग, बुढ़ापा, मृत्यु इत्यादि)। क्लेशात्मक भावनाओं पर नियन्त्रण रखने की असफलता ही हमारे स्वयं एवं दूसरों के कष्ट का द्वार खोलती है।

[13]

जब हम दूसरों के कष्ट का कारण बनते हैं तो हम स्वयं भी कष्ट भोगते हैं, ऐसा कहने का तात्पर्य अवश्य ही यह नहीं है कि हम युक्ति से अनुमान लगा सकते हैं कि हर बार जब हम किसी को पीटते हैं तो हमें भी चोट लगती है। किन्तु यहाँ मेरे कथन का भाव इससे ज्यादा व्यापक है । बल्कि, मेरा तात्पर्य यह है कि हमारी सही या गलत दोनों ही प्रकार की क्रियाएँ के प्रभाव से हमारे भीतर गहरा छाप छोड़ता है । अगर यह सही है कि कुछ स्तर तक हम सबके अंदर सहानुभूति की क्षमता है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति को हानि पहुँचाने के समय यह क्षमता निश्चय ही दब गयी होगी अथवा किसी प्रकार से छिप गयी होगी । इस उदाहरण पर विचार कीजिये । जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को निर्दयता से यातना देता है। उनका चित्त (लो) निश्चय ही स्थूल स्तर पर किसी ऐसे विनाशकारी विचार से प्रबलतया ग्रस्त हो गया होगा जिसके कारण वे ऐसा विश्वास करने लगते हैं कि पीड़ित ऐसे ही बर्ताव का पात्र है। कुछ हद तक ऐसा विश्वास सोच समझ कर चुना गया होगा जो एक निर्दयी व्यक्ति को अपनी भावनाओं को दबाने में मदद करता है। फिर भी, भीतर की गहराई में, इसका कुछ परिणाम निश्चित है । अंततः इसकी अधिक सम्भावना है कि यातना देने वाले व्यक्ति को कष्ट का अनुभव होगा । इस सन्दर्भ में पहले दिए जा चुके निर्दयी हिटलर एवं स्टालिन के उदाहरण पर विचार करें। जीवन के अंतिम क्षणों में वे वैसे ही अकेले, चिंतित, भयभीत, एवं शक्की हो गए थे, जैसे कौवा अपनी छाया से डरता है।

[14]

अवश्य ही हिंसा और विनाश की चरम सीमा तक जाने वाले लोगों की संख्या बहुत कम होती है और छोटे से नकारात्मक आचरण का प्रभाव भी बड़े नकारात्मक आचरण की अपेक्षा अत्यधिक सूक्ष्म होता है । कैसे आचरण के कारण स्वयं और औरों को दुःख पहुंचता है, इस तथ्य पर एक छोटे से उदाहरण पर विचार कीजिए । एक बच्चा खेलने जाता है और दुसरे बच्चे के साथ लड़ाई हो जाती है। तत्काल बाद विजयी बच्चे को संतुष्टि का अनुभव होता है। परन्तु घर लौटने पर जब विजय की यह भावना शांत हो जाती है एवं एक सूक्ष्म मन उदित होता है तब उसे तकलीफ होती है। ऐसे अनुभव को हम स्वयं से विच्छेद होना कह सकते हैं, यह उस बच्चे को बहुत "उचित" नहीं लगता है। इसके विपरीत जब एक बच्चा मित्र के साथ खेलने जाता है और आनंदमय दोपहर व्यतीत करता है, तो खेल के बाद मन में न केवल सन्तुष्टि की भावना होती है, बल्कि जब मन स्थिर हो जाता है एवं उत्तेजना शांत हो जाती है तब भी शान्ति एवं चैन विद्यमान रहता है।

[15]

एक दूसरे उदाहरण पर विचार कीजिए कि कैसे एक व्यक्ति के अनुचित आचरण से उस व्यक्ति को क्या हानि होती है जिसे उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

साधारणतया, ऐसा लगता है, हम मनुष्य और यहाँ तक कि पशु भी नीचता, आक्रामकता, कपट, इत्यादि से घृणा करते हैं । मुझे इससे यह लगता है, अगर हम ऐसे कार्य करते हैं जिससे औरों की क्षति होती है तो भले ही हमें इससे तात्कालिक संतुष्टि मिले, कुछ समय के बाद लोग हमें शक की दृष्टि से देखने लगेंगे। हमारी बदनामी के कारण वे हमारी ओर की दृष्टि से देखने आशंका, संदेह एवं भय लगेंगे। फिर हम समय के साथ मित्रों को खोने लगेंगे । इस प्रकार से, क्योंकि प्रतिष्ठा सुख देती है, इसका विनाश कर हम खुद को ही कष्ट देते हैं ।

[16]

यद्यपि, निश्चय ही, इसके कुछ अपवाद होंगे, किन्तु हम पाते हैं कि जो व्यक्ति औरों की परवाह किये बिना बहुत ही स्वार्थी जीवन व्यतीत करते हैं, ऐसे लोग काफी अकेले एवं दुःखी होते हैं । भले ही वे ऐसे लोगों से घिरे हों, जो उनकी संपत्ति या रुतबे के मित्र हों। किन्तु जब वैसे स्वार्थी या आक्रामक स्वभाव वाले व्यक्ति पर विपदा आती है, तब न केवल उनके तथाकथित मित्र गायब हो जाते हैं, बल्कि वे अन्दर ही अन्दर शायद प्रसन्न भी होते हैं । यदि वह पुरुष या स्त्री वाकई दुष्ट है, तो जब उनकी मृत्यु हो जाती है तो संभव है, कोई उन्हें याद नहीं करे। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु पर लोग शायद प्रसन्न भी हों, जैसे कैद करने वाले लोगों को बाद में मृत्यु दंड मिलने पर नाज़ी मृत्यु शिविर के अनेक कैदी हुए होंगे । इसके विपरीत हम पाते हैं कि जो व्यक्ति सक्रिय रूप से औरों के हित के लिए चिंतित हैं तो उनका काफी आदर किया जाता है, यहाँ तक कि उनकी वंदना भी की जाती है। ऐसे व्यक्तियों के देहावसान के पश्चात लोग शोक करते हैं एवं उनकी मृत्यु पर पश्चाताप करते हैं । महात्मा गांधी के उदाहरण को लें । पाश्चात्य शिक्षा एवं इसके फलस्वरूप मिले आरामदेह जीवन यापन के अवसर को त्याग कर उन्होंने औरों के हित के लिये एक भिक्षुक की तरह रहने का निर्णय लिया, ताकि वे अपने सम्पूर्ण जीवन को पर-हित कार्य में समर्पित कर सकें । भले ही उनका नाम अब एक स्मृति मात्र है, फिर भी करोड़ों लोग अभी भी उनके महान कार्यों से प्रोत्साहित होते हैं एवं उसमें सुख पाते हैं।

[17]

जहाँ तक हानिकारक भावनाओं के वास्तविक कारणों का प्रश्न है, हम कई तत्वों की ओर संकेत कर सकते हैं । इसमें एक है हमारी औरों के पहले स्वयं के बारे में सोचने की आदत । एक और तत्व यह भी है कि वस्तु एवं घटनाओं पर वास्तविकता से आगे बढ़ा चढ़ा कर स्वभाव थोपने की हमारी प्रवृति जैसे कुण्डलित रस्सी को साँप समझ लेने का उदाहरण। इनके अतिरिक्त, चूंकि हमारी नकारात्मक कल्पना एवं भावनाओं का अन्य वस्तुओं से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता है अतः वस्तु एवं घटनाएँ जिनके संपर्क में हम आते हैं, वही हमारी प्रतिक्रिया को रूप देने में भूमिका निभाती हैं। इस प्रकार ऐसा कुछ नहीं है जिसमें

हानिकारक भावनाओं को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। कुछ भी हमारी हानिकारक भावनाओं का कारण बन सकता है: न केवल हमारे विरोधी बल्कि हमारे मित्र एवं हमारी सबसे बहुमूल्य सम्पत्ति एवं हमारा स्वयं भी।

[18]

यह दर्शाता है कि हानिकारक कल्पनाओं एवं भावनाओं के प्रतिकार का पहला चरण यह है कि हम उन परिस्थितियों एवं गतिविधियों से बचें जो अक्सर उन्हें जन्म देती हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम पाते हैं कि किसी व्यक्ति विशेष से मिलने पर हम क्रोधित हो जाते हैं, तो उत्तम यह होगा कि हम उनसे तब तक दूर रहें जब तक हमारी आन्तरिक क्षमताओं का और विकास न हो जाये। दूसरा चरण यह होगा कि हम उन कारणों से बचें जिनसे ऐसी प्रबल कल्पनाएँ एवं भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। ऐसी प्रक्रिया यह मान कर चलती है कि हम अपने अन्दर उत्पन्न हो रही हानिकारक भावनाओं को पहचानना सीख चुके हैं। किन्तु यह सर्वदा सरल नहीं होता है। उदाहरण के लिए, द्वेष पूर्णतया विकसित होने पर एक बहुत ही प्रबल भावना होती है, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में किसी वस्तु और घटना के प्रति अनुभव की जाने वाली घृणा अत्यन्त सूक्ष्म हो सकती है तथा विकास के क्रम में काफी आगे बढ़ जाने के स्तर पर भी, हानिकारक भावनाएँ हमेशा भयंकर रूप में प्रकट नहीं होती हैं। वध करने वाला व्यक्ति बन्दूक का घोड़ा दबाने के क्षण में अपेक्षाकृत शान्त हो सकता है ।

[19]

इस प्रक्रिया में हमें अपने शरीर एवं उसके कार्यों, हमारी वाणी एवं हम क्या कहते हैं तथा हमारा हृदय एवं मन, हम क्या सोचते हैं एवं क्या अनुभव करते हैं के प्रति हमें सावधानी पूर्वक ध्यान देना चाहिये और सचेत रहना चाहिए। हमें सूक्ष्म से सूक्ष्म नकारात्मक भावना को पकड़ने के लिए तत्पर रहना चाहिए एवं स्वयं से निरन्तर ऐसे प्रश्न करते रहना चाहिए, "क्या में तब ज्यादा सुखी हूँ जब मेरे विचार एवं भावनाएँ नकारात्मक एवं विनाशकारी होते हैं या तब, जब वे पुण्यात्मक होते हैं?" "चित्त का स्वभाव क्या है? क्या इसका अस्तित्व स्वतः है, या इसका अस्तित्व अन्य तत्वों पर निर्भर करता है?" हमें निरंतर चिंतन मनन करना चाहिए। हमें ऐसे वैज्ञानिक की तरह होना चाहिए जो आंकड़े इकट्ठा करता है, उनका विश्लेषण करता है और तब उचित निष्कर्ष पर पहुँचता है। अपने अन्दर के क्लेशों को समझ पाना हमारा जीवन भर का कार्य है, जिसमें अंतहीन प्रतिशोधन की सम्भावना है। जब तक हम ऐसा नहीं करते हैं तब तक हम यह नहीं देख पाएंगे कि अपने जीवन में हमें कहाँ पर आवश्यक परिवर्तन लाना है।

[20]

यदि हम अपने गपशप जैसे व्यर्थ कार्यों में लगने वाले समय का छोटा सा भी अंश क्लेशकारी भावनाओं के वास्तविक स्वरूप को समझने में लगायें, तो मेरा विश्वास है कि इसका हमारे जीवन पर गंभीर प्रभाव पड़ेगा जिससे व्यक्ति एवं समाज दोनों का लाभ होगा । सर्वप्रथम हमें यह जानकारी मिलेगी कि क्लेशकारी भावनाएँ कितनी विनाशकारी हैं। हम जितना अधिक उनके विनाशकारी स्वभाव को पहचानेंगे उतना ही हम उनका अनुसरण करने से अनिच्छुक होते जाएंगे । सिर्फ इतने से प्रयास का भी हमारे जीवन पर गंभीर प्रभाव पड़ेगा।

[21]

हम यह समझें कि हमारे नकारात्मक विचार एवं भावनाएँ न सिर्फ मानसिक शांति के अनुभव को भंग करते हैं, बल्कि वे हमारे स्वास्थ्य का भी विनाश करते हैं। तिब्बती चिकित्सा परम्परा में क्रोध को कई व्याधियों जैसे रक्त चाप, अनिद्रा एवं अन्य अनेक विकृतियों तथा विकारों का स्रोत मानते हैं। इस धारणा को धीरे धीरे पाश्चात्य चिकित्सा परम्परा भी स्वीकार करने लगी है।

[22]

मेरे बचपन की एक और स्मृति यह दर्शाती है कि कैसे क्लेशकारी भावनाएँ हमारी हानि करती हैं । जब मैं एक किशोर था, मेरा समय व्यतीत करने का एक प्रिय साधन था पुरानी कारों के साथ छेड़-छाड़ करना जो मुझसे पूर्व तेरहवें दलाई लामा ने स्वर्गवासी होने के कुछ पहले ली थी । वे चार कारें थीं, दो ब्रिटिश बेबी ऑस्टिन थीं, अमेरिका से आयी एक डॉज एवं एक जर्जर स्थिति वाली जीप थी। कुल मिलाकर पूरे तिब्बत में सिर्फ यही चार मशीन से चलने वाले वाहन थे। युवा दलाई लामा के लिए इन धूल भरे अवशेषों के प्रति बड़ा आकर्षण था एवं मेरे अंदर उन्हें फिर से चलते हुए देखने की लालसा थी ।

[23]

मेरा निजी सपना था कि मैं वाकई गाड़ी चलाना सीखूं। बहुत सारे सरकारी अधिकारियों को परेशान करने के बाद अंततः एक ऐसे व्यक्ति मिले, जिन्हें कारों के बारे में कुछ पता था । यह भारतीय सीमा के ठीक उस पार स्थित कलिम्पोंग के रहने वाले ल्हागपा छेरिङ् थे। एक दिन जैसा कि मुझे याद है जब वे कार के इंजिन पर कार्य कर रहे थे, अचानक वे पाना को फेंक कर चिल्ला कर कसम खाते हुए झटके से खड़े हो गए। दुर्भाग्य से वे भूल गए थे कि उनके सर के ऊपर कार का हुड खुला हुआ था। उनका सिर हुड से बड़ी आवाज़ के साथ टकराया। परन्तु मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि स्वयं सावधानीपूर्वक निकलने के बजाये वे और क्रोधित हो गए और फिर सीधे खड़े होने के कारण उनके सिर पर दूसरी बार पहले से

ज्यादा तेज़ ठोकरलगी। एक क्षण के लिए यह विचित्र दृश्य देखकर मैं अचंभित रह गया। उसके बाद उनकी यह स्थिति देख कर मैंने पाया कि मेरी हंसी रोके नहीं रुक रही थी।

[24]

ल्हागपा छेरिङ् के क्रोध के फलस्वरूप उनके सिर पर केवल दो बड़े गूमड़ हुए। यह उनके लिए सिर्फ दुर्भाग्य की बात थी। लेकिन इससे हम देखते हैं कि कैसे क्लेशकारी भावनाएँ हमारे सबसे बहुमूल्य गुणों में से एक, हमारी विवेचनात्मक ज्ञान (उचित एवं अनुचित के बीच भेद देखने) की क्षमता का नाश करती हैं। हमारी उचित एवं अनुचित के मूल्यांकन करने की क्षमता, किससे स्वयं एवं औरों को दीर्घकालिक लाभ होगा और किससे सिर्फ तात्कालिक लाभ होगा के बीच अंतर करने की क्षमता तथा अपने कार्यों के सम्भावित फल का विवेचन करने की क्षमता नहीं रहेगी तो हम पशुओं से श्रेष्ठ नहीं हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात नहीं है कि क्लेशकरी भावनाओं के प्रभाव में हम जो कर बैठते हैं वह शायद साधारणतया हम कभी करने की न सोचते।

[25]

सोचने समझने की क्षमता को मिटाना हमारी ऐसी मानसिक एवं भावनात्मक घटना के एक और अवगुण के प्रति संकेत करता है। क्लेशात्मक भावनाएँ हमारे साथ छल करती हैं। ऐसा लगता है कि वे हमें संतुष्टि देती हैं। लेकिन वस्तुतः वे सन्तुष्टि नहीं देती हैं।वास्तव में, यद्यपि ऐसी भावनाएँ हमें साहस एवं शक्ति देकर सुरक्षा प्रदान करने के छद्मवेष में प्रकट होती हैं, किन्तु हम पाते हैं कि यह ऊर्जा वस्तुतः अंधी होती है। इसके प्रभाव में लिए गए निर्णय प्रायः पश्चाताप का स्रोत होते हैं । प्रायः ऐसा क्रोध हमारी शक्ति नहीं, बल्कि वास्तव में हमारी निर्बलता का सूचक है। अधिकांश लोगों को ऐसे विवाद का अनुभव होगा जो बिगड़ते बिगड़ते उस हद तक पहुँच जाता है, जब एक वादी गाली देने लगता है, जो उनके तर्क की दुर्बलता का स्पष्ट संकेत होता है । हमें साहस एवं आत्मविश्वास के लिए क्रोध की आवश्यकता नहीं है । साहस एवं आत्मविश्वास के लिये और भी उपाय हैं जिन्हें हम आगे देखेंगे।

[26]

क्लेशकारी भावनाओं का एक तर्कहीन आयाम भी होता है। यह हमें ऐसा मानने के लिए बढ़ावा देता है कि जो दिखता है वही हमेशा वास्तविकता के अनुरूप है। जब हम क्रोधित होते हैं या द्वेष करते हैं तब हम औरों को ऐसे देखते हैं जैसे उनके लक्षण अपरिवर्तनीय हों। कोई व्यक्ति सर से पांव तक आपत्तिजनक लग सकता है। हम यह भूल जाते हैं कि वह भी हमारी ही तरह दुःख भोग रहा प्राणी है और हमारी तरह उसकी भी यही कामना है कि वह सुखी रहे एवं उसे दुःख न हो। फिर भी, हमारा व्यावहारिक ज्ञान कहता है कि जब क्रोध की

प्रबलता कम होती है तब वही व्यक्ति थोड़ा कम आपत्तिजनक लगने लगता है । इसके विपरीत यही सच है कि जब किसी व्यक्ति को किसी से अत्यधिक लगाव हो जाता है दूसरा व्यक्ति पूर्ण रूप से आकर्षक लगता है किन्तु जब क्लेशकारी भावना की जकड़ कम हो जाती है तो वही व्यक्ति उतना आकर्षक नहीं प्रतीत होता है। वास्तव में जब हमारा आवेग अत्यधिक जग उठता है, तो यह बड़ी आशंका होती है कि हम विपरीत छोर पर पहुँच जाएँ । जिस व्यक्ति को हम कभी देवता समझते थे, वह घृणा का पात्र एवं कुत्सित लगने लगता है, यद्यपि वह अब भी वही व्यक्ति है जो पहले था ।

[27]

क्लेशकरी भावनायें व्यर्थ भी हैं। जितना हम उनके वश में होते हैं, उतना ही हमारे पास अच्छे गुणों ,जैसे दयालुता एवं करुणा, के लिए स्थान कम होता है एवं हमारी अपनी समस्याओं का समाधान करने की क्षमता उतनी ही कम होती है । सत्य तो यह है कि ऐसा कोई अवसर नहीं है जब ऐसे विनाशकारी विचार एवं भावनाएँ हमारी अथवा औरों की सहायता करती हैं। जितना हम क्रोधित होते हैं, लोग हमसे उतना ही दूर रहना चाहते हैं। हम जितने ही शक्की होते हैं, हम औरों से उतना ही कट जाते हैं और अकेले होते हैं । हम जितना ही ज्यादा विषयासक्त होते है, उतना ही हम औरों से उचित सम्बन्ध बनाने में असफल रहते हैं और फिर हम अकेले हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति के बारे में सोचिये जिसका व्यवहार अधिकतर क्लेशकारी भावनाओं से प्रेरित होता है, या जो उत्कट लालसा, द्वेष.लालच, अभिमान, महत्वाकांक्षा इत्यादि से प्रेरित होता है ऐसा व्यक्ति भले ही शक्तिशाली एवं प्रसिद्ध हो जायें । उसका नाम भले ही इतिहास में लिखा जाये। लेकिन मरणोपरान्त उसकी शक्ति चली जाती है और उसकी प्रसिद्धि मात्र खोखला शब्द रह जाती है । वास्तव में उसे क्या उपलब्धि मिली?

[28]

क्लेशकरी भावनाओं की व्यर्थता जितना सबसे ज्यादा क्रोध में दिखती है उतना कहीं नहीं। जब हम क्रोधित होते हैं तो हम करुणामय, स्नेहशील, दानशील, क्षमाशील, सहनशील, एवं धैर्यशील बिलकुल नहीं रह पाते हैं । इस प्रकार से हम स्वयं को उन सभी गुणों से वंचित कर बैठते हैं, जो हमारे सुख का कारण होते हैं। क्रोध सिर्फ हमारी समझबूझ का तत्काल विनाश ही नहीं करता है, बल्कि यह हमें उग्रता, द्वेष, व्यापाद (दूसरों को हानि पहुँचाने की इच्छा) की ओर अग्रसर करता है, जो हमेशा नकारात्मक होते हैं क्योंकि वह औरों की हानि के साक्षात कारण होते हैं। क्रोध दु:ख देता है। कम से कम यह शर्म के दु:ख का कारण तो बनता ही है। उदाहरण के लिए, मुझे हमेशा घड़ी की मरम्मत करने में आनन्द आता है । परन्तु मुझे स्मरण है कि बाल अवस्था में मैं अनेक बार छोटे-छोटे जटिल पुर्जों पर पूर्णतया धैर्य खो कर यन्त्र को मेज़ पर पटक देता था। बाद में अवश्य हीअपने व्यवहार पर

मुझे बहुत पश्चाताप होता था एवं मैं लज्जित होता था--खासकर तब जब मुझे उस घड़ी को उसके मालिक के पास पहले से भी बुरी अवस्था में वापस करना पड़ता था ।

[29]

यह बात, जो स्वयं में छोटी है, दिखलाती है कि भले हमारे पास अच्छा भोजन, अच्छे सामान, सुन्दर से टेलीविज़न जैसी भौतिक समृद्धियाँ हों, किन्तु जब हम क्रोधित होते हैं तो हम अपनी सारी आंतरिक शांति खो बैठते हैं। इस अवस्था में हम अपने जलपान का भी आनन्द नहीं ले सकते हैं। और जब हमें इस क्रोध के स्वभाव की आदत हो जाती है तो हम भले ही बड़े विद्वान, धनी या शक्तिशाली हों, किन्तु अन्य लोग हमसे कतराते हैं। वे कहेंगे, "हाँ, वह काफी बुद्धिमान है, लेकिन जानते हैं कि उनका मिज़ाज कितना ख़राब है?" और वे आपसे दूर रहेंगे। अथवा यह कहेंगे,"वह अत्यधिक मेधावी है, किन्तु वह बहुत शीघ्र क्रोधित हो जाता है, अच्छा हो कि आप उससे सावधान रहें ।" बिलकुल वैसे ही जैसे हम हमेशा दांत दिखा कर गुर्राने वाले कुत्ते के प्रति होते हैं, हम उन लोगों से सावधान रहते हैं जिनका चित्त क्रोध से ग्रसित रहता है । हम उनकी संगति से ज्यादा उनके क्रोध के विस्फोट से बचना पसन्द करते हैं ।

[30]

मैं यह अस्वीकार नहीं करता कि भय की अवस्था में क्रोध का एक ऐसा रूप भी होता है जिसे हम ऊर्जा के आवेग के रूप में महसूस करते हैं न कि सिर्फ तीव्रता से प्रकट हुई मानसिक भावना के रूप में । यह विचारणीय है कि ऐसे क्रोध का परिणाम अच्छा हो सकता है । यह कल्पना करना असम्भव नहीं है कि हो रहे अन्याय को देख कोई क्रोध में आकर परोपकार भाव से कार्य करे। उस क्रोध को हम सकारात्मक कह सकते हैं जो हमें उस व्यक्ति की सहायता के लिए प्रेरित करता है जिस पर सड़क पर आक्रमण हो रहा हो। लेकिन अगर यह अन्याय रोकने की सीमा से बाहर जाने लगे और यदि यह व्यक्तिगत प्रतिशोध या दुष्टता में परिवर्तित हो जाये, तब संकट पैदा हो जाता है। जब हम कुछ नकारात्मक करते हैं, तो हम स्वयं को अपने नकारात्मक आचरण से भिन्न देखने में सक्षम होते हैं। किन्तु जब दूसरों की बात आती है तो हम कर्त्ता एवं क्रिया में भेद देखने में चूक जाते हैं। यह दर्शाता है कि देखने में न्यायसंगत लगने वाला क्रोध भी कितना अविश्वसनीय है।

[31]

अगर अब भी यह अतिशियोक्ति लगे कि क्रोध एक पूर्णतया व्यर्थ मनोभाव है, तो हम स्वयं से यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या कभी कोई ऐसा कह सकता है कि क्रोध सुख प्रदान करता है? कोई ऐसा नहीं कहता है । कौन सा डॉक्टर है जो किसी रोग के उपचार के लिए क्रोध

का सेवन बताता हो? ऐसा कोई डॉक्टर नहीं है । क्रोध हमारी सिर्फ हानि ही करता है। इसमे कुछ भी सेवन करने योग्य गुण नहीं है। पाठक स्वयं से पूछें कि जब हम गुस्से में होते हैं, तो क्या हमें सुख का अनुभव होता है? क्या हमारा मन शान्त होता है और हमारे शरीर को आराम मिलता है? क्या ऐसा नहीं है कि क्रोध की अवस्था में हमें अपना शरीर तनाव ग्रस्त एवं मन विचलित लगता है?

[32]

यदि हम अपने मन की शांति और इससे उत्पन्न अपने सुख को बचा कर रखना चाहते हैं, तो हमें अपने नकारात्मक विचार एवं मनोभावनाओं के प्रति विवेकपूर्ण एवं निर्लिप्त दृष्टिकोण के साथ-साथ हमें उनकी प्रतिक्रिया में संयम वाले आचरण का विकास करना होगा। नकारात्मक विचार एवं भावनाएँ ही हमारे आचरण को अनैतिक बनाते हैं । क्लेशकारी भावनाएँ ही हमारे आंतरिक दुःख का स्रोत हैं जो निराशा, भ्रम, भय, चिन्ता, एवं आत्मसम्मान में कमी आदि का आधार होता है, जिससे हमारे आत्मविश्वास का नाश होता है । नकारात्मक भावनाओं पर नियंत्रण न करने के फलस्वरूप हम सर्वदा मानसिक एवं चित्त की कष्ट वाली अवस्था में रहेंगे तथा ऐसी अवस्था में आन्तरिक शान्ति असम्भव है। ऐसी मनः स्थिति में सुख के स्थान पर भय रहेगा तथा चिंता एवं अवनमन कभी दूर नहीं होंगे ।

[33]

कुछ लोगों की धारणा है कि यद्यपि ऐसे तीव्र द्वेष की भावनाएँ जो हमें हिंसक बना सकती हैं और शायद हत्यारा भी, उन पर नियन्त्रण करना शायद उचित हो। किन्तु अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण एवं अपने मन को अनुशासित करने पर हमें अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त होने का खतरा है । वस्तुतः सत्य इसके विपरीत है । जैसा कि मैत्री एवं करुणा का स्वभाव है, वैसे ही क्रोध एवं क्लेशकारी भावनाएँ भी कभी समाप्त नहीं होतीं, चाहे उनका कितना भी उपयोग हुआ हो। बल्कि उनमें लगातार वृद्धि की प्रवृत्ति ऐसे ही है जैसे गर्मी में बर्फ के पिघलने से नदियों में बाढ़ आने की, जिससे स्वतन्त्र होना तो दूर, हमारा मन उनका दास बनकर असहाय हो जाता है। जब हम गलत विचार एवं भावनाओं को बढ़ावा देते हैं तो अनिवार्यतः हमें उनकी आदत पड़ जाती है। इसके परिणाम स्वरूप जितना हम कमजोर होते जाते हैं, उतना ही उनके वशीभूत हो जाते हैं। फिर हमें किसी भी अप्रिय परिस्थिति का सामना करने पर भड़कने की आदत हो जाती है।

[34]

आंतरिक शांति, जो सुख का मुख्य स्वभाव है और क्रोध, दोनों का अस्तित्व एक दूसरे की हानि किये बिना नहीं हो सकता है। वास्तव में, नकारात्मक विचार एवं भावनाएँ हमारी शांति

एवं सुख के मूलभूत कारणों को हानि पहुंचाते हैं। सत्य तो यही है कि जब हम उचित तरीके से सोचते हैं तो पाते हैं कि सुख की कामना करना मूर्खता है, अगर हम क्रोध, व्यापाद (दूसरों को हानि पहुँचाने की इच्छा), एवं दुष्टता पर नियंत्रण करने के लिए कुछ नहीं करें। जरा सोचिये, जब हम क्रोधित होते हैं हम प्रायः कटु शब्दों का प्रयोग करते हैं। कटु शब्दों से मित्रता भंग हो सकती है। सुख हमारे दूसरों के सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में उत्पन्न होता है, जब हम मित्रता को हानि पहुंचाते हैं, तब हम सुख के महत्वपूर्ण कारणों में से एक को क्षति पहँचाते हैं।

[35]

यह कहना कि हमें अपने क्रोध एवं नकारात्मक विचारों एवं भावनाओं पर नियंत्रण करने की आवश्यकता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी भावनाओं को अस्वीकार कर दें । अस्वीकार करने में एवं नियंत्रण करने के बीच एक महत्वपूर्ण भेद करने की आवश्यकता है। नियंत्रण करने का अर्थ है सोच - समझ कर एवं स्वेच्छा से ऐसा करने में अपनी भलाई देखते हुए अनुशासन का पालन करना। यह उस परिस्थिति से बिलकुल भिन्न है जब कोई अपनी क्रोध जैसी भावनाओं को झूठे आत्म नियंत्रण दिखाने की मानसिकता से, अथवा अन्य लोग क्या सोचेंगे के भय से , दबा कर रखता है। ऐसा आचरण एक घाव को ऊपर से बंद करने जैसा है जिसके अंदर पीव अभी भी है। हम लोग विधि पालन की बात नहीं कर रहे हैं। जब भावनाओं को नकारा एवं दबाया जाता है, तब यह संकट होता है कि व्यक्ति अपने अंदर क्रोध एवं उपनाह (मन में द्वेष को जकड़े रखना) को जमा करके रखता है। समस्या यहां यह होती है कि भविष्य में वे शायद पायें कि वे इन भावनाओं पर और नियंत्रण नहीं रख सकते हैं।

[36]

अन्य शब्दों में, वास्तव में कुछ विचार एवं भावनायें ऐसी हैं--नकारत्मक भावनाएँ सहित--जिन्हें खुलकर व्यक्त करना उचित एवं आवश्यक भी है, यद्यपि उन्हें व्यक्त करने के कम या अधिक उचित रास्ते भी हैं । किन्तु इन मनोभावों से उत्पन्न क्रोध को छिपा करके इन पर चिंता कर अपने ह्रदय में उपनाह का पोषण करने से कहीं उत्तम है कि हम उस सम्बन्धित व्यक्ति अथवा परिस्थिति का सामना करें। फिर भी, अगर हम बिना विवेचन किये अपने नकारात्मक विचार एवं भावनाओं को व्यक्त करेंगे सिर्फ इसी आधार पर कि उन्हें व्यक्त करना आवश्यक है, तो बड़ी सम्भावना है कि, उन्हीं कारणों से जो मैंने बताये हैं, हम नियन्त्रण खो बैठेंगे एवं अति-प्रतिक्रिया की गलती करेंगे । इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि हम इसे विवेचनपूर्वक देखें कि हम कब कौन सी भावना व्यक्त करते हैं और उन्हें कैसे व्यक्त करते हैं।

[37]

जैसा कि मैं समझता हूँ, वास्तविक सुख मानसिक शांति से परिलक्षित होता है एवं वह औरों से हमारे सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में उत्पन्न होता है । इसलिए यह हमारे नैतिक आचरण पर निर्भर करता है, जिसमें औरों के हित की चिंता करना निहित है ।

[38]

जिनसे हमें करुणामय आचरण करने में बाधा पहुँचती है वे हैं क्लेशकारी भावनाएँ। इसीलिए, यदि हम सुखी होना चाहते हैं तो हमें अपने नकारात्मक विचारों एवं भावनाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया पर नियन्त्रण करना चाहिये। जब मैं कहता हूँ कि हमें जंगली हाथी को अवश्य ही नियन्त्रण में लाना चाहिए, तो इससे मेरा तात्पर्य अनुशासनहीन मन से है । जब मैं क्लेशकारी भावनाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को नियंत्रित करने में असफल होता हूँ तो मेरा आचरण अनैतिक हो जाता है एवं मेरे सुख के कारणों में विघ्न उत्पन्न होता है। यहाँ हम लोग बुद्धत्व प्राप्त करने की बात नहीं कर रहे हैं, न हम ईश्वर से एकीभूत होने की बात कर रहे हैं । हम सिर्फ इस तथ्य की पुष्टि कर रहे हैं कि हमारा हित एवं भविष्य का सुख औरों के हित से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं एवं हम इसके अनुसार व्यवहार करना सीखें।

[39]

मनन योग्य प्रश्न

१. हमारे स्वभाव का कौन सा पक्ष करुणा की उत्पत्ति में बाधा डालता है?

२. हम आतंरिक सयंम का विकास कैसे कर सकते हैं?

३. लेखक मानस का विवरण कैसे करते हैं?

४. कठिन व्यक्तियों से बर्ताव करने के लिए लेखक क्या उक्ति सुझाते हैं?

५. क्लेशकारी भावनाएं हमें कैसे हानि करती हैं?

६. आतंरिक शांति के क्या लक्षण हैं?

७. नकारात्मक विचार एवं भावनाओं की अस्वीकार करने में तथा उन पर संयम रखने में क्या फर्क है?

अध्याय ७ - सद्गुण की नैतिकता

मैंने सुझाव दिया है कि अगर हमें वास्तव में सुखी होना है तो आन्तरिक नियन्त्रण अपरिहार्य है। किन्तु हम केवल आन्तरिक नियन्त्रण पर ही नहीं रुक सकते हैं। यद्यपि यह हमें बड़े नकारात्मक कार्य करने से रोकता है, तथापि यदि हमें वह सुख प्राप्त करना हो जो मानसिक शान्ति से परिलक्षित है तो मात्र आत्म नियन्त्रण पर्याप्त नहीं है। हमें स्वयं में--हमारी आदतों एवं प्रवृत्तियों में--परिवर्तन लाने के लिए, ताकि हमारा आचरण करुणामय हो, उस नैतिकता का विकास करना अनिवार्य है जिसे हम सद्गुण की नैतिकता कह सकते हैं। नकारात्मक विचारों एवं भावनाओं को रोकने के साथ-साथ हमें सद्गुणों को उत्पन्न और पोषित करना आवश्यक है। ये सद्गुण कौन से हैं? ये सद्गुण हमारे मूलभूत मानवीय, अथवा आध्यात्मिक गुण हैं ।

[1]

करुणा (ञिङ्जे) के बाद के सद्गुणों में एक मुख्य वह है जिसे हम तिब्बती में "सोपा" कहते हैं। पुनः हमारे पास एक ऐसा शब्द है जिसका आधुनिक भाषाओं में सटीक अनुवाद नहीं है यद्यपि इसका भाव विश्वव्यापी है। अकसर सोपा का हम अंग्रेजी "पेशन्स" शब्द से अनुवाद करते हैं, यद्यपि इसका शब्दशः अर्थ "सहन करने की क्षमता" है। तथापि इस शब्द में दृढ़ निश्चय का अर्थ भी निहित है। इस प्रकार सोपा का अभिप्राय, प्रतिकूल परिस्थिति में उत्पन्न होने वाले अपने उन प्रबल नकारामत्क विचारों एवं भावनाओं के प्रतिउत्तर में सोच समझ कर की गयी प्रतिक्रिया से है, ना कि बिना सोचे समझे की जाने वाली प्रतिक्रिया से। इसलिए सोपा वह है जो हमें दुःख को सहने की शक्ति देता है एवं हमें कष्ट व नुकसान पहुँचाने वालों के प्रति भी करुणा खोने से बचाता है।

[2]

इस सन्दर्भ में मुझे तिब्बत के नामग्याल विहार के भिक्षु लोपोन-ला का संस्मरण बार-बार याद आता है। मेरे तिब्बत से प्रवास में आने के पश्चात् लोपोन-ला उन हजारों भिक्षुओं एवं अधिकारियों में से एक थे, जिन्हें तिब्बत पर कब्ज़ा करने वाले सैनिकों ने कारागार में डाल दिया था। अंततः जब उन्हें कारागार से छोड़ा गया, तो उन्हें भारत जाने की अनुमति मिली, एवं प्रवास में पुनः स्थापित अपने विहार में फिर से शामिल हुए । यद्यपि मैं उनसे बीस वर्ष उपरांत मिल रहा था, फिर भी लोपोन-ला मुझे ठीक वैसे ही लगे जैसे वे पहले थे। अवश्य ही वे पहले से वृद्ध दिख रहे थे, किन्तु वे शारीरिक दृष्टि से सकुशल थे, एवं मानसिक दृष्टि से दीर्घकालिक यंत्रणा से वे कदापि दुष्प्रभावित नहीं हुए थे। उनका मृदुल एवं शांतिपूर्ण स्वभाव यथावत था । लेकिन उनसे वार्ता कर मुझे पता चला कि लम्बी क़ैद के दौरान उन्हें भयंकर यातनाएँ सहनी पड़ी थी। और जैसा सबके साथ हुआ था, उन्हें पुनर्शिक्षा की ताड़ना

को भी भोगना पड़ा था जिसमें उन्हें अपने धर्म को बलपूर्वक गलत घोषित करने का प्रयास किया गया था तथा कई अवसरों पर उन्हें शारीरिक यातना भी दी गयी थी। जब मैंने उनसे प्रश्न किया कि ऐसी परिस्थितियों में क्या वह कभी भयभीत हुए थे? तो उन्होंने कहा कि उन्हें केवल एक बात का भय था, कि कहीं वह अपने बंदीकर्ताओं के प्रति करुणा एवं सहानुभूति न खो दें।

[3]

उनके इस उत्तर से मैं अत्यन्त द्रवित हुआ, साथ में अत्यंत प्रेरित भी हुआ। लोपोन-ला की कथा ने मेरे दीर्घकालिक विश्वास को दृढ़ कर दिया। यह न तो मनुष्य की मात्र शारीरिक संरचना की बात है, न ही उनकी बुद्धिमता और शिक्षा की, न ही उनके समाज से प्राप्त शिक्षा की, जिससे उसे कठिनाई को सहने की क्षमता मिलती है । इसके लिये सबसे महत्वपूर्ण है उनकी आध्यात्मिक स्थिति। यद्यपि कुछ लोग आत्मबल के सहारे भी बच जाते हैं किन्तु जो लोग सोपा के उच्च स्तर पर पहुँचे होते हैं, वे लोग सबसे कम दुःख भोगते हैं ।

[4]

सहिष्णुता एवं दृढ़ता (प्रतिकूल परिस्थिति में साहस रखना) ऐसे दो शब्द हैं जो सोपा के प्रथम स्तर के विवरण के काफी निकट आते हैं । लेकिन जब व्यक्ति इसका और अधिक विकास करता है तो आपदा के समय उसका आत्मसंयम बना रहता है, अविचलित रहने का भाव, उच्चतर आध्यात्मिक लक्ष्य के लिए कठिनाइयों को स्वैच्छिक रूप से स्वीकार करने की भावना को दर्शाता है। इसमें निहित होता है किसी परिस्थिति की वास्तविकता को इस समझ के साथ स्वीकार करना कि इसकी विशेषता के पीछे परस्पर अपेक्षित कारण एवं प्रत्यय का एक अत्यन्त वृहत जटिल जाल है।

[5]

इस प्रकार सोपा वह साधन है जिसकी सहायता से हम सच्ची अहिंसा का पालन करते हैं। सोपा के विकास से हमें न केवल छेड़े या परेशान किए जाने पर होने वाली दैहिक प्रतिक्रियाओं पर नियन्त्रण करने में मदद मिलती है, बल्कि इससे हमें क्लेशकरी विचारों एवं भावनाओं से बचने में भी सहायता प्राप्त होती है। हम सोपा की बात तब नहीं कर सकते जब हम किसी से उपनाह (मन में द्वेष को जकड़े रखना) रखते हुए दब जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि कार्यालय के किसी वरिष्ठ कर्मचारी द्वारा परेशान किए जाने के बावजूद हमें अपनी भावना के विपरीत उसका आदेश मानना पड़ता है, तो यह सोपा नहीं है। सोपा का सार है कठिनाइयों के सामने दृढ़ सकंल्प पूर्वक धैर्य। अन्य शब्दों में, जो धैर्यपूर्ण सहनशीलता का पालन करने वाला व्यक्ति नकारात्मक आवेगों (जो हम क्रोध, द्वेष, प्रतिशोध की कामना आदि जैसे क्लेशकरी भावनाओं के रूप में अनुभव करते हैं) के प्रभाव

में नहीं आने के लिए कृतसंकल्प रहता है, वह अन्याय का विरोध करता है लेकिन हिंसा के उत्तर में हिंसा नहीं करता है।

[6]

इससे पहले मैंने जो भी कहा है उसका अभिप्राय यह नहीं है कि किसी भी परिस्थिति में अन्याय का दृढ़ उपाय के साथ विरोध करना उचित नहीं है। शान्ति अथवा धैर्य का अनुशीलन करने का अर्थ, जैसे मैंने व्याख्या की है, यह भी नहीं है कि लोग हमारे साथ जो भी करें हम उसे स्वीकार कर लें और बस दब जाएँ। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि अपनी हानि होने पर भी हमें कोई प्रतिक्रिया नहीं करनी चाहिये। सोपा को मात्र अकर्मण्यता समझने का भ्रम नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत कुछ परिस्थितियों में ऐसा भी हो सकता कि प्रबलता से प्रतिकूल कार्यवाही करना सोपा के अनुशीलन के अनुकूल हो सकता है। हरेक के जीवन में ऐसा भी समय आता है जब कठोर शब्द और यहाँ तक कि शारीरिक हस्तक्षेप करना भी उचित हो। चूंकि सोपा का अनुशीलन हमारे मानसिक संतुलन की रक्षा करता है, अतः इसकी सहायता से हम उचित अहिंसक प्रतिक्रिया के लिए निर्णय करने की सुदृढ़ स्थिति में होते हैं, जो उस स्थिति में संभव नहीं है जब हम नकारात्मक विचारों एवं भावनाओं के वशीभूत होते हैं । इससे हम देखते हैं कि सोपा कायरता के बिलकुल विपरीत है। कायरता तब होती है जब हम भय के कारण अपना सारा आत्मविश्वास खो बैठते हैं। धैर्यपूर्ण सहिष्णुता का अर्थ है कि हम भयभीत होने के बावजूद अविचलित रहते हैं।

[7]

जब मैं स्वीकार करने की बात करता हूँ तब मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि हम यथाशक्ति अपनी समस्याओं को हल करने का प्रयास न करें, जब उनका समाधान संभव है । किन्तु वर्तमान दुःख के सन्दर्भ में, जिन्हें हम पहले से ही भुगत रहे हों, उस दुःख को स्वीकार करने से यह होता है कि उस अनुभव पर अतिरिक्त मानसिक एवं भावनात्मक दुःख का बोझ नहीं पड़ता है। उदाहरण के लिए वृद्धावस्था के बारे में हम ज्यादा कुछ नहीं कर सकते हैं। वृद्धावस्था को स्वीकार कर लेना, इसे लेकर कुढ़ते रहने से कहीं अच्छा है। वास्तव में मुझे यह थोडा मूर्खतापूर्ण लगता है जब आवश्यकता होने पर भी कोई वृद्ध व्यक्ति केवल स्वाभिमान के कारण सहायता अस्वीकार कर देता हैं जबकि उसे स्पष्ट रूप से सहायता की आवश्यकता रहती है।

[8]

इस प्रकार धैर्यपूर्ण सहिष्णुता एक ऐसा गुण है जो हमें नकारात्मक विचारों एवं भावनाओं के वशीभूत होने से बचाता है। यह प्रतिकूल परिस्थितयों में हमारे चित्त की शान्ति की रक्षा करता है । इस तरह की शान्ति के अनुशीलन करने से हमारा आचरण नैतिकता पूर्ण रहता

है। जैसा कि हमने देखा, नैतिकता के अनुशीलन का प्रथम चरण है, हम अपने नकारात्मक विचारों एवं भावनाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया का निरीक्षण करें जैसे ही वे उत्पन्न होते हैं। इसका अगला चरण--जो हम अवरोध के बाद उठाते हैं--उत्तेजना का शान्ति से सामना करना है।

[9]

यहाँ पाठक आपत्ति कर सकते हैं कि ऐसी परिस्थितियाँ होंगी जब ऐसा करना असंभव होगा। उन अवसरों के बारे में क्या कह सकते हैं जब हमारे निकट का कोई व्यक्ति जो हमारी सारी कमजोरियां जानता है, वह हमारे साथ ऐसा दुर्व्यवहार करता है, जिससे हम संयम खो कर क्रोध पर नियंत्रण नहीं ला सकते हैं? निश्चय ही ऐसी परिस्थितियों में हमें उस व्यक्ति के प्रति दया करना शायद असम्भव लगे, फिर भी कम से कम हमें यह प्रयास करना चाहिये कि हम हिंसक अथवा आक्रामक तरीके से प्रतिक्रिया न करें। ऐसी स्थिति में उस स्थान को छोड़ देना, पैदल घूमने के लिए जाना, यहाँ तक कि बीस श्वास गिनना भी उत्तम होता है। ऐसे में हमें मन को थोड़ा शान्त करने का कोई साधन ढूँढना चाहिए। इसी कारण से शान्ति का अनुशीलन हमारी दिनचर्या का प्रमुख हिस्सा होना चाहिए। यह प्रश्न है शांति की गहराई की समझ का, ताकि जब हम स्वयं को कठिन परिस्थिति में पाएं तो हमें पता हो कि ऐसे में क्या करना पड़ेगा, यद्यपि इसमे शायद हमें अतिरिक्त प्रयास भी करना पड़े। दूसरी ओर, यदि हम शान्ति के अनुशीलन के अभ्यास की तब तक अवहेलना करते हैं जब तक हम वास्तव में कठिनाई में न पड़ जायें तो संभवतः हम उत्तेजना का प्रतिकार नहीं कर पाएंगे।

[10]

शान्ति अथवा सोपा के गुण को निकट से समझने का एक उत्तम उपाय है इनके लाभ के बारे में समय निकालकर सुनियोजित ढंग से चिंतन करना। यही क्षमाशीलता का स्रोत है। जब हम सोपा को क्रिया एवं कर्ता के बीच अन्तर देखने की अपनी क्षमता से जोड़ते हैं तो क्षमाशीलता स्वतः ही उत्पन्न होती है। सोपा के जैसा और कुछ भी नहीं है जो हमारे चित्त में औरों के प्रति हित की भावना की रक्षा करता है चाहे उनका व्यवहार हमारे प्रति कैसा भी हो । सोपा हमें क्रिया को लेकर उचित अनुचित का निर्धारण करने में सहायता करता है एवं उस व्यक्ति के प्रति करुणा बनाए रखने में मदद करता है। इसी तरह जब हम धैर्यपूर्ण सहिष्णुता की क्षमता का विकास करते हैं तो हम पाते हैं कि उसी अनुपात में हमारे भीतर शान्ति एवं स्थिरता का विकास होता है। हम कम विवादी होने लगते हैं एवम् लोगों को हमारे साथ जुड़ना अच्छा लगने लगता है। फलतः हमारे आसपास अनुकूल वातावरण बनता है जिससे और लोगों को हमारे साथ सम्बन्ध जोड़ने में आसानी होती है। शान्ति के अनुशीलन के कारण उच्चतर भावनात्मक स्थिरता प्राप्त होने से हम न सिर्फ मानसिक एवं

आध्यात्मिक रूप से सुदृढ़ होते हैं बल्कि हम शारीरिक रूप से ज्यादा स्वस्थ होते हैं। निश्चय ही मैं अपने अच्छे स्वास्थ्य का श्रेय अपने शान्त एवं स्थिर मन को देता हूँ।

[11]

लेकिन सोपा अथवा धैर्य का सबसे बड़ा लाभ है कि यह हमारी आंतरिक शान्ति और ख़ुशी के सबसे बड़े शत्रु, क्रोध के प्रबल प्रतिपक्ष के रूप में कार्य करता है । वास्तव में, शान्ति क्रोध के विनाशकारी परिणामों से बचाने का सबसे उत्तम आंतरिक साधन है। सोचिये, धन क्रोध का अवरोधक नहीं है, न ही व्यक्ति की शिक्षा, भले ही वह कितना भी संपन्न अथवा बुद्धिमान हो। इसी तरह कोई नियम कानून भी इसमें सहायता नहीं कर सकता है और यश भी व्यर्थ है। सिर्फ सहनशीलता पूर्ण धैर्य की आंतरिक सुरक्षा ही हमें नकारात्मक विचारों एवं भावनाओं के उत्पात के अनुभव से बचा सकती है। मन, अथवा चित्त (लो) भौतिक तत्व नहीं है। उसे सीधे स्पर्श नहीं किया जा सकता है और उसे क्षति नहीं पहुँचायी जा सकती है । सिर्फ नकारात्मक विचार एवं भावनाएं इसको हानि पहुंचा सकते हैं। इसलिए केवल अनुकूल सद्गुण ही इसकी रक्षा कर सकते है ।

[12]

शान्ति के सद्गुण को भली भांति जानने के दूसरे चरण के रूप में हमें काफी सहायता मिलती है, अगर हम आपदा को मन की शांति के खतरे के रूप में नहीं देखें, बल्कि हम इसे शान्ति के विकास के साधन के रूप में देखें। इस परिप्रेक्ष्य से हमें ज्ञात होता है कि जो हमारी हानि कर सकते हैं वे वास्तव में हमें शान्ति सिखाने वाले शिक्षक हैं। ऐसे लोग हमें वह शिक्षा देते हैं जो हम किसी का भाषण सुनकर कभी नहीं सीख सकते हैं, चाहे भाषण कर्ता कितने भी ज्ञानी अथवा आध्यात्मिक क्यों न हों। किसी पाठक को यह आशा नहीं करनी चाहिये कि वह यह सद्गुण सिर्फ पुस्तक पढ़ कर सीख सकते हैं--हो सकता है कि यह पुस्तक इतनी उबाऊ हो कि सहनशीलता की आवश्यकता पड़े! विपदाओं से ही हमें सहनशीलतापूर्ण शान्ति के मूल्य का बोध होता है। विशेष रूप से नुकसान पहुँचाने वाले लोग हमें अनुशासित व्यवहार का अभ्यास करने का बहुमूल्य अवसर प्रदान करते हैं।

[13]

मेरा तात्पर्य यह नहीं कि लोग अपने कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं हैं । परन्तु, स्मरण रहे कि सम्भवतः वे लोग अधिकतर अज्ञानवश कार्य करते हैं। वह बच्चा जिसका पालन पोषण हिंसात्मक वातावरण में हुआ हो उसे शायद किसी और प्रकार से व्यवहार करना न पता हो। ऐसी स्थिति में दोषारोपण का प्रश्न ही व्यर्थ हो जाता है। हमें कष्ट पहुँचाने वालों - यहाँ, अवश्य ही, मैं उन उदाहरणों की नहीं बात कर रहा हूँ जहाँ लोग हमारा उचित कारण से विरोध करते हैं अथवा जब वे हमारी अनुचित मांगों को अस्वीकार करते हैं - के प्रति हमारी

उचित प्रतिक्रिया यह पहचानना है कि हमें कष्ट पहुँचाने के प्रयास में अंततः वे अपनी शान्ति, आंतरिक संतुलन एवं इस कारण से अपना सुख खो देते हैं। हमारा लाभ इसी में होता है कि हमारे हृदय में उनके प्रति करुणा हो, विशेषकर इसलिए कि सिर्फ किसी की क्षति की कामना करने से उनकी हानि नहीं होती है । हमारी स्वयं की हानि अवश्य होगी।

[14]

कल्पना कीजिये जब दो पड़ोसियों में विवाद हो रहा होता है । उनमें से एक विवाद को गम्भीरता से नहीं लेता है। दूसरे पड़ोसी का चित्त विवाद में तल्लीन रहता है एवं निरन्तर अपने विरोधी को हानि पहुँचाने का मार्ग ढूंढता रहता है। लेकिन इससे होता क्या है? द्वेष के पोषण से शीघ्र ही वह कष्ट भोगने लगता है। पहले उसकी भूख मिट जाती है फिर उनकी नींद । अंततः उनका स्वास्थ्य गिरने लगता है । उनके दिन और रात दुःख में व्यतीत होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप वह अपने विरोधी की आकांक्षा को ही पूरा करता है ।

[15]

वास्तव में जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि किसी व्यक्ति विशेष को अपने क्रोध का विषय बनाना पूर्णतया तर्कसंगत नहीं है। आइये, हम कल्पना में एक साधारण सा प्रयोग करें। ऐसा उदाहरण लें जब कोई हमारे साथ गाली गलौज करता है। यदि इस कष्ट के कारण हम क्रोध की ओर प्रवृत्त होते हैं, तो क्या हमारी भावना के केंद्र में वे शब्द नहीं होने चाहिये, जो हमें कष्ट दे रहे होते हैं? लेकिन हम उस व्यक्ति पर क्रोध करते हैं जो हम पर चिल्ला रहा होता है। अवश्य ही इस पर आपत्ति की जा सकती है कि क्योंकि वह व्यक्ति ही चिल्ला रहा है जिस पर हमारा क्रोधित होना इस आधार पर उचित है कि ऐसे आचरण का उत्तरदायी वह व्यक्ति है न कि उसके शब्द। सम्भवतः यह सत्य हो । इसी समय, यदि हमें उस पर क्रोधित होना है, जिसने हमें वास्तव में कष्ट दिया, तो उसके शब्द ही अधिक साक्षात् कारण होते हैं। इससे भी उत्तम, क्या हमें अपना क्रोध उसके प्रति नहीं करना चाहिए जिसने उस व्यक्ति को हमें गाली देने के लिए प्रेरित किया, जो उसकी क्लेशात्मक भावना भावनाएँ हैं? क्योंकि यदि वह व्यक्ति शम एवं शान्त होता, तो वह ऐसा व्यवहार नहीं करता । फिर भी इन तीन तत्वों--शब्द जो कष्ट देते हैं, ऐसे शब्द कहने वाला व्यक्ति, नकारात्मक भावनाएँ जिनसे वह प्रेरित हुआ--के बजाय हम केवल व्यक्ति को अपने क्रोध का लक्ष्य बनाते हैं । इसमें कुछ असंगति है।

[16]

अगर यह आपत्ति उठाई जाये कि हमें गाली देने वाले व्यक्ति का स्वभाव ही वास्तव में हमारे कष्ट का कारण है, तो भी उस व्यक्ति के प्रति क्रोध प्रकट करने का हमारे पास कोई उचित आधार नहीं है । अगर उस व्यक्ति का मूलभूत स्वभाव हमारे प्रति द्वेषपूर्ण होता तो फिर उस

व्यक्ति में किसी और प्रकार से व्यवहार करने की क्षमता नहीं होती । ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति पर क्रोध करना व्यर्थ होगा। अगर हम आग से जलते हैं, तो अग्नि पर क्रोध करने का कोई अर्थ नहीं है। अग्नि का स्वभाव है जलाना। लेकिन हमें यह स्मरण कराने के लिए कि स्वभावसिद्ध द्वेष अथवा स्वभावसिद्ध दुष्टता की अवधारणा मिथ्या है, हम यह देखें कि कैसे हमें दुख देने वाला व्यक्ति भिन्न परिस्थितियों में हमारा अच्छा मित्र बन सकता है। ऐसा सुनना असाधारण नहीं है कि युद्ध काल के विरोधी सैनिक शान्ति के समय मित्र बन गए। हम सभी को ऐसे व्यक्ति से मिलने का अनुभव है, जो पहले बुरी छवि के बावज़ूद मिलने पर काफी अच्छे निकले।

[17]

अवश्य ही मैं यह नहीं सुझा रहा हूँ कि हमें हर परिस्थिति में ऐसे ही सोचना चाहिए। जब हमारे सामने शारीरिक खतरा हो तो शायद हम अच्छा करेंगे अगर ऐसे तर्क करने के स्थान पर हम अपनी ऊर्जा को भागने पर केंद्रित करें! लेकिन शान्ति पर विभिन्न दृष्टिकोण से विचार करने एवं इसके लाभ को समझने में समय लगाना हितकारी है। यह अभ्यास हमें आपदा की चुनौती का सामना कुशलता से करने में सक्षम बनाएगा ।

[18]

मैंने पहले कहा है सो पा या शान्ति क्रोध के प्रतिकारी बल के रूप में कार्य करता है । वास्तव में हर नकारात्मक मानसिक अवस्था के लिए हम पाते हैं एक ऐसा मानसिक तत्व जो इसका प्रतिकारक है। उदाहरण के लिए, विनम्रता अहंकार का प्रतिकार करता है; सन्तोष लोभ का; लगन से प्रयास करना आलस्य का प्रतिकार करता है। अतः यदि हम उस कष्ट का निवारण चाहते हैं--जो तब उत्पन्न होता है जब हम नकारात्मक विचारों और भावनाओं को विकसित होने के लिए अवसर देते हैं--तो सद्गुणों को उत्पन्न करना नकारात्मक विचारों और भावनाओं की प्रतिक्रियाओं पर नियन्त्रण करने से भिन्न नहीं समझना चाहिए । दोनों साथ साथ चलते हैं । इसलिये नैतिक अनुशासन केवल संयम अथवा केवल सद्गुणों की स्थापना से पर्याप्त नहीं है ।

[19]

आत्म नियन्त्रण का यह क्रम प्रतिकारकों के साथ कैसे कार्य करता है, इसे देखने के लिए जरा चिन्ता के बारे में विचार कीजिये। चिंता को हम एक प्रकार के भय के रूप में व्याख्या कर सकते हैं, जो विकसित मानसिक अंश के साथ एक है। हम सब ऐसे अनुभवों एवं घटनाओं का सामना करने के लिए बाध्य हैं, जिन पर हमें ध्यान देना पड़ता है। लेकिन ध्यान चिंता में तब बदलता है, जब हम सोच में डूब जाते हैं और अपनी कल्पना से इसमें नकारात्मक बातें जोड़ते जाते हैं । तब हम गहरी चिंता से ग्रस्त होकर परेशान होने लगते हैं।

हम इसमें जितने उलझते हैं हमें उतने ही चिंतित होने के अधिक कारण दिखने लगते हैं । अंततः हम स्वयं को स्थाई रूप से मानसिक व्यथा की अवस्था में पाते हैं। यह अवस्था जितनी बढ़ती जाती है, हम इसके प्रतिकार में उतना ही अक्षम होते जाते है एवं यह व्यथा उतनी ही प्रबल होती जाती है । परन्तु जब हम इस पर गम्भीरता से विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि इस प्रक्रिया के पीछे मुख्य रूप से हमारी संकीर्ण सोच एवं गलत दृष्टिकोण है। इसी वज़ह से हम इस तथ्य की अवहेलना कर बैठते हैं कि घटनाएँ एवं वस्तुएं असंख्य कारणों एवं परिस्थितियों के परिणाम से उत्पन्न होती हैं, जबकि हम अपना ध्यान घटना के एक या दो पक्षों पर ही सीमित कर लेते हैं। उदाहरण के लिए हम अपने दुःख का दोष पूर्णतया अपने बचपन के नकारात्मक अनुभवों पर डाल देते हैं। लेकिन ऐसा करके हम स्वयं को अवश्य ही दुःख के समाधान के सिर्फ उन्हीं पक्षों में सीमित कर बैठते हैं। इससे समस्या यह होती है कि जब हम उनका समाधान ढूंढने में असफल होते हैं तब पूर्णतया हतोत्साहित होने का खतरा होता है । इसीलिए चिंता को दूर करने का प्रथम चरण है, अपनी परिस्थिति को भली भांति समझना।

[20]

ऐसा हम कई प्रकार से कर सकते हैं। इनमें सबसे प्रभावशाली उपाय यह है कि हम अपना ध्यान स्वयं से हटा कर औरों पर केन्द्रित करें । जब हम इस प्रयास में सफल होते हैं तो हम पाते हैं कि हमारी समस्याओं की विराटता कम होने लगती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमें अपनी आवश्यकतायों की पूर्ण रूप से अवहेलना करनी चाहिए, बल्कि हमें अपनी आवश्यकताओं के साथ-साथ दूसरों की आवश्यकताओं पर ध्यान रखना चाहिए चाहे हमारी आवश्यकता कितनी भी प्रबल क्यों न हो। यह लाभकारी है चूंकि जब हमारी, दूसरों के हित की सोच, क्रिया में रूपांतरित होती है, तो हमारा आत्मविश्वास स्वतः बढ़ता है एवं आकुलता एवं चिन्ता कम हो जाती है। वास्तव में, हम पाते हैं कि सारे मानसिक एवं भावनात्मक दुःख जो आधुनिक जीवन के लक्षण हैं-- जिसमें निराशा, अकेलापन इत्यादि सम्मिलित हैं—वे उसी क्षण कम हो जाते हैं जब हम उन कार्यों में प्रवृत्त होने लगते हैं जो दूसरों के हित की कामना से प्रोत्साहित होते हैं। मेरे दृष्टिकोण से, यह स्पष्ट करता है कि क्यों सिर्फ दिखावे के लिए अच्छे कार्य करना चिंता कम करने के लिए पर्याप्त नहीं है। जब ऐसे कार्यों के पीछे हमारा अल्पकालिक लक्ष्य होता है, तब ऐसे में हम अपनी समस्यायों को बढ़ाते ही हैं ।

[21]

फिर, उन अवसरों के बारे में क्या कहना जब हमें पूरा जीवन असंतुष्ट लगने लगता है अथवा जब हम स्वयं को अपने दुःख से अभिभूत पाते हैं--जैसा हम सभी के जीवन में कम या अधिक कभी न कभी होता है। जब ऐसा होता है, तब यह अत्यंत आवश्यक है कि हम

अपने मन का हौसला बढ़ाने के सभी प्रयास करें । हम अपने सौभाग्य का स्मरण करके ऐसा कर सकते हैं । उदाहरण के लिए, हमें किसी का स्नेह प्राप्त हुआ हो, हममें कोई विशेष मेधा हो, हमें अच्छी शिक्षा मिली हो, हमारी मूलभूत जरूरतों की पूर्ति हुई हो, जैसे खाने के भोजन, पहनने के वस्त्र, रहने का आवास और हमने कोई परोपकार का कार्य किया हो । जैसे एक महाजन छोटे से छोटे ऋणों पर भी ब्याज वसूलता है, वैसे ही हमें जीवन के छोटे से छोटे सकारात्मक पक्षों पर भी ध्यान देना चाहिए। क्योंकि अगर हम अपना हौसला बढ़ाने में असफल रहते हैं तो हमें शक्तिहीन होने की भावना में और डूबने का खतरा रहता है। इससे हममें यह भावना उत्पन्न हो सकती है कि हम कुछ भी अच्छा करने के लायक नहीं हैं। इस प्रकार से हम और भी निराश के कारण का निर्माण करते हैं । ऐसे में आत्महत्या शायद एकमात्र विकल्प दिखने लगे।

[22]

निराशा एवं हताशा के ज्यादातर उदाहरणों में हम पाते हैं कि किसी व्यक्ति की अपनी परिस्थितियों के बारे में समझ उसकी मुख्य समस्या है, न कि वास्तविकता। अवश्य ही, औरों की सहायता के बिना इसका समाधान शायद सम्भव न हो । ऐसी परिस्थिति में यह सहायता मांगने की बात हो जाती है। परन्तु कुछ ऐसी भी परिस्थितियां हैं जिनका कोई समाधान संभव नहीं है। ऐसी स्थितियों में शायद धार्मिक आस्था हमें आश्वस्त कर सकती है, किन्तु यह एक अन्य विषय है।

[23]

सद्गुण की नैतिकता में और क्या हो सकता है? एक सामान्य सिद्धांत के रूप में, यह आवश्यक है कि हम अति से बचें। जैसे अत्यधिक खाना, वैसे ही जरूरत से कम खाना भी उतना ही हानिकारक है, उसी तरह सद्गुणों के लिए प्रयास एवं अभ्यास में भी है। हम पाते हैं कि अच्छे कार्य भी अत्यधिक सीमा तक ले जाने पर हानि का स्रोत बन जाते हैं । उदाहरण के लिए, साहस को परिस्थिति पर ध्यान दिए बिना अत्याधिक सीमा तक ले जाने पर शीघ्र ही मूर्खता वाली बात बन जाती है। वास्तव में अति करना सद्गुण के प्रयास के एक मुख्य प्रयोजन का हनन करता है। हमारा प्रयोजन अन्य व्यक्ति अथवा घटनाओं पर हमारी प्रचंड मानसिक अथवा भावनात्मक प्रतिक्रिया पर नियंत्रण करना है । इस प्रयोजन के पालन न करने से निश्चित रूप से हमारी क्षति होती है।

[24]

यहाँ पर यह भी समझना महत्वपूर्ण है कि अपने आचरण को सहज रूप से नैतिक बनाने के लिए हमारे चित्त एवं ह्रदय का परिवर्तन आवश्यक है और इसके लिए आवश्यक है कि हम सद्गुणों के अभ्यास को अपनी दिनचर्या के केंद्र में रखें। ऐसा इसलिए है, क्योंकि मैत्री एवं

करुणा, शान्ति, उदारता, विनम्रता, इत्यादि सभी परस्पर पूरक हैं। चूंकि क्लेशात्मक भावनाओं का उन्मूलन अत्यंत कठिन है, अतः यह महत्वपूर्ण है कि नकारात्मक भावना अथवा विचार उत्पन्न होने से पूर्व हम उनके प्रतिकारकों का प्रयोग करने की आदत बनायें। उदाहरण के लिए उदारता का विकास हमारी संपत्ति एवं यहाँ तक कि अपनी ऊर्जा को संकीर्णता पूर्वक संजोने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए आवश्यक है। दान देने का अभ्यास हमारी कंजूसी को कम करता है, जिस कंजूसी को उचित ठहराने के लिए हम कहते हैं कि, "यदि मैं अपनी चीजें दान में देने लगूँ तो मेरे लिए क्या बचेगा?"

[25]

हर प्रमुख धर्म एवं हर सभ्य समाज दान करने को सद्गुण मानता है, और यह स्पष्ट रूप से देने वाले और पाने वाले दोनों के लिए लाभकारी होता है । जो दान पाता है उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती है और जो दान देता है उसे यह सोच कर आनन्द मिलता है कि उसके उपहार से किसी और व्यक्ति को ख़ुशी मिली । इसके साथ ही हमें यह भी समझना चाहिए कि दान कई प्रकार के होते हैं एवं कई श्रेणी के होते हैं । किन्तु जब दान देने के पीछे हमारा ध्येय औरों के सामने अपनी छवि बढ़ाना--प्रसिद्धि पाने के लिए एवं लोग हमें कल्याणकारी अथवा पावन समझें--होता है तो हम दान के कार्य को दूषित करते हैं । ऐसी परिस्थिति में हम दान का अनुशीलन नहीं कर रहे हैं बल्कि स्वयं की महानता दिखा रहे हैं । इसी प्रकार जो बहुत बड़ी मात्रा में दान देता है वह संभवतः उसकी तुलना में उतना उदार न हो जो कम देता हैं । यह सब निर्भर करता है दानकर्ता की क्षमता एवं इसके पीछे की भावना अथवा आशय पर ।

[26]

यह पूर्णतया उपहार का स्थान नहीं ले सके । समय एवं ऊर्जा का दान शायद सामग्री का उपहार देने से श्रेष्ठकर है । संभवतः यहाँ मैं खासकर उस सेवा के दान के बारे में सोच रहा हूँ जो शारीरिक अथवा मानसिक रूप से विकलांग, बेघर, अकेले, जो कारावास में दण्ड भुगत रहे , अथवा दण्ड भोग चुके जैसे लोगों के लिए है। इस प्रकार के दान में, उदाहरण के लिए, शिक्षकों द्वारा विद्यार्थियों को प्रदान की गई शिक्षा भी सम्मिलित है। फिर जैसा कि मैं समझता हूँ सबसे करुणात्मक दान वह है, जो बिना किसी फल की आशा या विचार के दिया जाता है एवं जिसके पीछे औरों के हित की सच्ची कामना होती है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि हम अपने चिंतन के दायरा को अपने हित के साथ साथ दूसरों के हित को सम्मिलित करने के लिए जितना भी अधिक विस्तृत करते हैं, हम अपने सुख की नींव को उतना ही मज़बूत बनाते हैं ।

[27]

यह कहना कि विनम्रता हमारे नैतिकपूर्ण परिवर्तन के प्रयास का अनिवार्य अंश है, यह शायद मेरे, आत्मविश्वास के बारे में कहे गए वर्णन से असंगत लगे। लेकिन जैसे उचित आत्मविश्वास, आत्मसम्मान के भाव में, एवं अहंकार--जिसका वर्णन हम स्वयं की मिथ्या महत्ता के रूप में कर सकते हैं जो स्वयं की झूठी छवि पर आधारित होती है--के बीच स्पष्ट भेद है, वैसे ही सच्ची विनम्रता, जो वस्तुतः सरलता का ही एक रूप है, तथा आत्मविश्वास के अभाव के बीच के अन्तर को भी समझना आवश्यक है। वे एक ही चीज़ नहीं हैं, यद्यपि बहुत लोग उनमें भिन्नता नहीं देख पाते हैं। शायद यही कारण है कि आजकल विनम्रता को आंतरिक शक्ति न समझकर दुर्बलता समझ लिया जाता है, खास कर उद्योग एवं व्यवसाय जगत में। वास्तव में आधुनिक समाज विनम्रता को वह सम्मान नहीं देता है जो मैंने अपने बाल्यकाल में तत्कालीन तिब्बती समाज में अनुभव किया है। तब हमारी संस्कृति एवं लोगों की विनम्रता के प्रति आदरभाव ने ऐसे वातावरण की रचना की थी, जिसमें विनम्रता का भाव सहज रूप से फलफूल रहा था। तत्कालीन तिब्बती समाज में महत्वाकांक्षा (जिसे पूर्णतया समीचीन अभिलाषा से अलग समझना चाहिए जो अच्छे कार्य की सफलता के लिए होती है) को आत्मकेंद्रित स्वार्थ की ओर ले जाने वाला अवगुण समझा जाता था। किन्तु वर्तमान समाज में विनम्रता की आवश्यकता पहले से ज्यादा है। विज्ञान एवं यंत्र की प्रगति के सहयोग से हम मनुष्य एक व्यक्ति या परिवार के रूप मे जितने सफल होते हैं, हमारे लिए विनम्रता को बचाये रखना उतना ही महत्वपूर्ण होता है। क्योंकि जितनी ही हमें लौकिक सफलता मिलती है, उतना ही हमें अहंकारी होने का खतरा होता है।

[28]

यह विचार सच्चे आत्मविश्वास एवं विनम्रता को विकसित करने में उपयोगी है कि कैसे उन लोगों का मज़ाक उड़ाया जाता है जो स्वयं को बहुत महत्वपूर्ण समझते हैं । शायद उन्हें पता नहीं हो कि वह कैसे मूर्ख प्रतीत होते हैं, जबकि बाकी लोगों को यह स्पष्ट दिखाई देता है । यद्यपि यह किसी और व्यक्ति के बारे में बुरे या भले का विश्लेषण करने की बात नहीं है, बल्कि ऐसे चित्त एवं ह्रदय की अवस्था के नकारात्मक परिणामों को भली भांति समझने का प्रश्न है। औरों के ऐसे उदाहरण को देखकर और ऐसे व्यवहार के बुरे परिणाम को समझकर, हम और दृढ़ संकल्प हो कर स्वयम् को इस अवगुण से बचा सकते हैं । एक अर्थ में हम दूसरों की हानि नहीं करने के सिद्धांत को इस आधार पर लागू कर रहे हैं कि हम स्वयं नहीं चाहते कि कोई हमारी हानि करे। दूसरों की खामी देखना उनके गुणों को स्वीकार करने से बहुत ज्यादा आसान है। हम इसका भी उपयोग करना नहीं चाहते दूसरों में खामी देखना अपनी खामियों को देखने से काफी आसान है।

[29]

यहाँ शायद मुझे यह भी कहना चाहिए कि विनम्रता को आत्मविश्वास की कमी समझने की गलती नहीं करनी चाहिए एवं विनम्रता का सम्बन्ध व्यर्थता के भाव से तो है ही नहीं। स्वयं का मूल्य नहीं समझना सर्वदा हानिकारक है एवं इससे व्यक्ति के मानसिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक पक्षाघात की स्थिति में पहुँचने की सम्भावना होती है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति स्वयं से घृणा भी करने लग सकता है। यद्यपि मैं स्वीकार करता हूँ कि जब पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने मुझे स्वयं से घृणा करने के बारे में बताया था तब मुझे यह बात अटपटी लगी थी। मुझे यह बात इस सिद्धांत के विपरीत लगी कि हमारी मूलभूत कामना है कि हम सुखी रहें एवं दुःख से बचें। लेकिन अब मैं मानता हूँ कि जब कोई व्यक्ति सही दृष्टिकोण से सोचने की क्षमता पूर्ण रूप से खो बैठता है तो उसे स्वयं से घृणा करने का खतरा रहता है। लेकिन हम सब में सहानुभूति करने की क्षमता है। इसलिए हम सभी में कल्याणात्मक आचरण में प्रवृत होने की क्षमता है, चाहे वह सिर्फ अच्छे विचार के रूप में ही क्यों न हो। स्वयं को मूल्यहीन समझना बिलकुल अनुचित है।

[30]

दृष्टिकोण की संकीर्णता, जिससे हम इस अति दशा पर पहुँच जाएँ और स्वयं के प्रति घृणा अथवा निराशा हो , से बचने का एक दूसरा उपाय है अन्यों के सौभाग्य पर आनन्दित होना अर्थात उसका अनुमोदन करना जब भी ऐसा अवसर मिले।। इसके अभ्यास के रूप में दूसरों के प्रति आदर प्रकट करने के हर अवसर का उपयोग करना लाभप्रद होता है, यहाँ तक कि हम उनकी प्रशंसा कर उनका उत्साह बढ़ा सकते हैं यदि ऐसा करना उचित लगे। किन्तु यदि ऐसी प्रशंसा करना चापलूसी लगे अथवा सम्बन्धित व्यक्ति का घमण्ड बढ़ाये तब शायद हमें इसे अपने तक ही सीमित रखना श्रेष्ठकर होगा। इसी तरह अगर हमारी प्रशंसा हो रही हो तो हमारे लिये यह ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है कि इससे हम अपने में अहंकार अथवा महत्वपूर्ण होने की भावना न होने दें। बल्कि अपनी प्रशंसा होने पर हमें यह समझकर दूसरों की उदारता को पहचानना चाहिए कि उन्होंने हमारे गुणों की प्रशंसा की।

[31]

अपने प्रति इन नकारात्मक भावनाओं--जो पहले कभी उन अवसरों पर उत्पन्न हुई जब हमने दूसरों की भावनाओं की अवहेलना की एवं अपने स्वार्थ और लाभ के पूर्ति के लिए दूसरों की हानि की--पर नियंत्रण पाने के लिए यह लाभप्रद होता है कि हम पश्चाताप एवं प्रायश्चित की भावना का विकास करें। यहाँ पर पाठक यह न समझें कि मैं उस "गिल्ट*" के भाव की वकालत कर रहा हूँ जिसका उल्लेख मेरे अनेक पाश्चात्य विदेशी मित्र करते हैं। तिब्बती में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जो गिल्ट शब्द का सटीक अनुवाद हो। इस शब्द के प्रबल सांस्कृतिक प्रभाव के कारण, मैं निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि मैं इसका अर्थ पूर्णरूप से समझता हूँ । किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि भले ही अपनी पहले की

गलतियों को लेकर मानसिक कष्ट का यह भाव स्वाभाविक एवं अपेक्षित हो, लेकिन जब हम इसे गिल्ट की भावना तक खींच ले जाते हैं, तो इसमें कदाचित भोगासक्ति की भी मानसिकता होती है । वस्तुतः यह व्यर्थ है कि हम अपने पहले के अनुचित आचरण के बारे में इतनी चिंता करने लगें कि हमें पक्षाघात हो जाये। जो हुआ था वह हो चुका है। ऐसी स्थिति में, ईश्वर पर विश्वास करने वाले व्यक्ति के लिये उचित होगा कि वह इसके लिये ईश्वर से क्षमा मांग ले। जहाँ तक बौद्ध अध्यात्म में अनुशीलन का प्रश्न है, उसमें में भी परिशोधन के लिए कई विधियां एवं रीतियाँ हैं। यदि व्यक्ति किसी धर्म में विश्वास नहीं करता हो तो अवश्य ही उसके लिए यह बात है कि वह पूर्व में किये गये अनुचित आचरण के कारण उत्पन्न मानसिक नकारात्मक भावना को स्वीकार करे एवं उसके लिए संताप एवं पश्चाताप के भाव को विकसित करे। लेकिन सिर्फ संताप एवं पश्चाताप तक ही न रुकते हुए यह भी आवश्यक है कि इसे आधार बना कर, कभी किसी को हानि न पहुँचाने की एवं सर्वदा औरों का हित करने की सहृदय प्रतिज्ञा हेतु उसे दृढ़ संकल्प लेना चाहिए। अपने अनुचित आचरण के बारे में किसी ऐसे व्यक्ति को बताना, जिन पर हमें पूर्ण विश्वास हो एवं जिनका हम आदर करते हों एवं उसके सामने अपनी गलती स्वीकार करना भी सहायक होता है। सर्वोपरि बात यह है कि हमें यह स्मरण रहे कि जब तक हममें दूसरों के कल्याण की चिंता है, तब तक हममें परिवर्तन की क्षमता रहती है। हम बिलकुल गलत होंगे, यदि हम अपने अनुचित आचरण की गंभीरता को मन ही मन गलत मान कर बैठ जायें एवं अपनी मनोभावना का सामना करने के बजाय सब आशा छोड़ कर कुछ भी न करें। इससे हमारी गलती और बड़ी ही हो जाती है।

[32]

तिब्बत में एक लोकोक्ति है कि सद्गुणों के आचरण का अभ्यास गधे को पहाड़ की ऊँचाई की ओर हांकना जैसा कठिन होता है एवं दुर्गुणों के आचरण का अभ्यास पत्थर को पहाड़ से नीचे की ओर लुढ़काने जैसा आसान होता है। एक कहावत यह भी है कि अनुचित आचरण की प्रेरणा ऐसे सहज रूप से उत्पन्न होती है जैसे वर्षा एवं ऐसी प्रेरणा का आवेग जो गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव में जल की धारा की तरह बढ़ती जाती है। यह और भी बुरा होता है जब हममें नकारात्मक विचार एवं भावनाओं में लिप्त रहने की प्रवृत्ति रहती है, यद्यपि साथ में हम यह भी मानते हैं कि हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि हम उस प्रवृत्ति पर नियंत्रण करें जिसके कारण हम कार्य को टालते हैं और व्यर्थ के कार्यों में समय को बर्बाद करते हैं और साथ ही अपनी आदतों में परिवर्तन लाने की चुनौती से यह कह कर दूर रहते हैं कि यह दुष्कर है। विशेष कर यह महत्वपूर्ण है कि औरों के कष्ट की महत्ता को देखकर स्वयं को हताश होने से बचायें। लाखों लोगों का कष्ट सिर्फ तरस खाने की बात नहीं है। बल्कि यह स्वयं में करुणा को विकसित करने का कारण है।

[33]

हमें जानना चाहिए कि ऐसी स्थिति में कुछ नहीं कर पाना, जब यह स्पष्ट हो कि कार्यवाही की आवश्यकता है तो यह भी नकारात्मक आचरण माना जा सकता है। जब कार्यवाही न करने का कारण क्रोध, द्वेष अथवा ईर्ष्या हो तब हम क्लेशात्मक भावना को स्पष्ट रूप से प्रेरणा का तत्व मान सकते हैं। ऐसा सामान्य एवं जटिल दोनों परिस्थितियों में होता है। उदाहरण के लिए अगर एक पति अपनी पत्नी को चेतावनी नहीं देता है कि जो बर्तन वह उठाने वाली है वह गर्म है, क्योंकि वह चाहता है कि उसका हाथ जल जाए तो स्पष्ट है कि पति के मन में क्लेशात्मक भावना मौजूद है। दूसरी ओर, अगर कार्यवाही न कर पाने का कारण केवल आलस्य है तो व्यक्ति की मानसिक एवं भावनागत स्थिति शायद इतनी नकारात्मक न हो। किन्तु परिणाम शायद उतना ही गंभीर हो, यद्यपि ऐसी निष्क्रियता का उत्तरदायित्व क्लेशात्मक विचार एवं भावनाओं की तुलना में उस व्यक्ति में करुणा की कमी होने पर ज्यादा है। इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि हम अपनी आलस्य वाली आदत पर काबू पाने के लिए उतना ही तत्पर रहें जितना क्लेशात्मक भावनाओं की प्रतिक्रिया पर अंकुश रखने के लिए।

[34]

यह आसान कार्य नहीं है एवं धार्मिक मानसिकता वाले लोगों को यह भली भांति समझना चाहिए कि ऐसा कोई वरदान अथवा प्रवर्तन नहीं है - जो अगर हमें प्राप्त हो सकता - और कोई रहस्मय अथवा जादुई साधन अथवा मंत्र अथवा विधि - जिसको अगर हम खोज सकते--तो फिर तत्काल हमारा परिवर्तन हो सके। यह परिवर्तन थोड़ा थोड़ा करके आता है, जैसे एक एक ईंट से भवन का निर्माण होता है, अथवा जैसा कि तिब्बती में एक कहावत है, बूँद बूँद से समुद्र बना है। साथ ही क्योंकि, जैसे हमारा शरीर रोगग्रस्त हो जाता है, वृद्ध हो जाता है एवं घिस जाता है, इसके विपरीत हमारी क्लेशात्मक भावनाएँ कभी आयु के कारण क्षीण नहीं होती हैं, अतः यह जानना आवश्यक है कि उनसे जूझना जीवन भर का संघर्ष है। पाठक यह न सोचें कि यह हम जो चर्चा कर रहे वह केवल ज्ञानोपार्जन का प्रश्न है। न ही यह प्रश्न उस ढृढ़ निश्चय का है जो ऐसे ज्ञान की उपज होती है। जो चर्चा हम यहाँ कर रहें हैं वह यह है कि ऐसे सद्गुणों का हम अनुभव प्राप्त करें जो निरन्तर प्रयास एवं अनुशीलन से होता है जिससे यह सहज हो जाता है। हम पाते हैं कि जितना हम दूसरों के कल्याण की चिंता को विकसित करते हैं, उतना ही दूसरों के हित के लिए कार्य करना सरल हो जाता है। जैसे जैसे हमें आवश्यक प्रयास करने की आदत होती जाती है,वैसे ही इसे बनाये रखने के लिए कम संघर्ष करने की आवश्यकता होती है। अंततः यह हमारे स्वभाव का अंश बन जाता है। लेकिन इसके लिए कोई छोटा अर्थात् आसान मार्ग नहीं है।

[35]

सदगुण के कार्य में प्रवृत्त होना कुछ ऐसा ही है जैसे एक शिशु को पालन पोषण कर बड़ा करना। इसमें कई बातें शामिल होती हैं। एवं, विशेष करके आरम्भ में हमें अपनी आदतों तथा मानसिकता में परिवर्तन लाने के लिए समझदारी एवं कुशलता से कार्य करना चाहिए। इसके साथ हमें अपनी लक्ष्य प्राप्ति की अपेक्षा को लेकर यथार्थवादी अर्थात व्यवहारिक होने की भी आवश्यकता है। हम जैसे हैं वैसा बनने में बहुत लम्बा समय लगा है तथा हमारी आदतें रातों रात नहीं बदलती हैं। इसलिए हमारी प्रगति के साथ हमारा लक्ष्य तो ऊँचा रहना चाहिए लेकिन अपने व्यवहार की तुलना परमादर्श के मापदण्ड से करना मूर्खता होगी जैसे महाविद्यालय में प्रथम कक्षा के बच्चे की जानकारी की तुलना एक स्नातक के स्तर से करना। स्नातक के स्तर का ज्ञान आदर्श है, लेकिन मानदण्ड नहीं है। इसी कारण से बीच बीच में छोटे समय में वीरों की तरह ढेर सारा प्रयास कर, सुस्त पड़ जाने की तुलना में अच्छा है कि हम एक नदी की धारा की तरह धीरे धीरे अपने परिवर्तन के लक्ष्य के लिए परिश्रम करें।

[36]

स्वयं में परिवर्तन के लिए आजीवन प्रयास का उत्तम उपाय है, दैनिक चर्या का ऐसे चयन करना जिसे हम अपनी प्रगति के अनुसार ढाल सकें। अवश्य ही, जैसा कि सामान्यतः सद्गुण के अभ्यास के साथ होता है, वह ऐसा तत्व है, जिसे धार्मिक अनुशीलन प्रोत्साहित करता है। लेकिन इसकी कोई वज़ह नहीं है कि धर्मों में विश्वास नहीं रखने वाले लोग कुछ ऐसे उपायों का प्रयोग नहीं करें जिससे मानवता को हज़ारों साल से बड़ा लाभ हुआ है। दूसरों के हित की चिंता करने की आदत बनाना और हर सुबह जागते ही नैतिकता पूर्ण अनुशासित जीवन के मूल्य पर मनन करने में थोड़ा समय देना सभी के लिए उत्तम है चाहे आप धर्म में विश्वास करते हों या नहीं । दिन के अंत में कुछ समय निकालकर इसकी समीक्षा करना भी कि हम अपने प्रयास में कितने सफल रहे, उतना ही उपयोगी है। ऐसा अनुशासन अपने ही स्वार्थ में नहीं लगे रहने के लिए दृढ़ संकल्प विकसित करने में काफी सहायक होता है।

[37]

अगर यह सुझाव उन पाठकों को कुछ कष्टकर लगे जो निर्वाण या मोक्ष के लिए नहीं बल्कि केवल मानवीय सुख की तलाश में हैं, तो हमें यह स्मरण करने योग्य है कि अपने जीवन में सबसे ज्यादा ख़ुशी एवं संतुष्टि वही कार्य देते हैं, जो हम दूसरों के कल्याण के लिए करते हैं। अवश्य ही, हम और आगे बढ़ सकते हैं। जबकि मानवता के अस्तित्व के मूलभूत प्रश्न जैसे, हम यहाँ क्यों हैं, हम कहाँ जा रहे हैं, क्या इस ब्रहाण्ड का आरम्भ है, आदि के विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में भिन्न भिन्न उत्तर दिये गए हैं, किन्तु यह स्पष्ट है कि उदार हृदय एवं कुशल आचरण से ज्यादा शान्ति मिलती है। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि इसके विपरीत

नकारात्मक कार्यों का परिणाम अवाँछनीय होता है। सुख सद्गुणों वाले कारणों से उत्पन्न होता है । अगर हम वास्तव में सुख चाहते हैं, तो सद्गुण के मार्ग के अलावा और कोई मार्ग नहीं है। यह वह उपाय है जिससे हमें सुख प्राप्त हो सकता है । इसमें हम यह भी जोड़ सकते हैं कि सद्गुणों की नींव अर्थात आधार भूमि नैतिक अनुशासन है ।

[38]

मनन योग्य प्रश्न

१. सद्गुण की नैतिकता का अभ्यास करना हमारे लिए महत्वपूर्ण क्यों है?

२. लोपोन ला की कहानी के बारे में अपना विचार बतायें।

३. कृपया सो पा का अर्थ बतायें।

४. उन लेखक ने अवस्थाओं से, जिनमे आपको अपना धैर्य खोने का भय होता है, निबटने के लिए क्या सुझाव दिया है?

५. हम कठिनाईयों से लाभ कैसे उठा सकते हैं।

६. हम चिंता का सामना कैसे करते हैं, इस के बारे में अपना सुझाव बतायें।

७. विनम्रता और आत्मविश्वास में क्या अंतर है? विनम्रता क्यों महत्वपूर्ण है?

८. सद्गुण का अभ्यास इतना कठिन क्यों होता है?

९. अकर्मण्यता अनैतिक कैसे हो सकती है?

अध्याय ८ - करुणा की नैतिकता

पूर्व के अध्यायों में हम देख चुके हैं कि विश्व के सारे प्रमुख धर्म अपने को विकसित करने लिए स्नेह एवं करुणा के महत्त्व पर जोर देते हैं। बौद्ध दार्शनिक प्रथा में करुणा के भिन्न-भिन्न स्तरों की प्राप्ति का वर्णन है। साधारण स्तर पर करुणा (ञिङ्-जे) को मुख्यतः सहानुभूति के रूप में समझा जाता है -- दूसरों के दु:ख को समझने एवं कुछ हद तक उसमें साझा लेने की हमारी क्षमता के रूप में । बौद्ध अनुयायी--एवं शायद और मतों के अनुयायी भी--मानते हैं कि इस क्षमता का इतना विकास किया जा सकता है कि करुणा न सिर्फ बिना किसी प्रयास के जागृत हो बल्कि वह बिना किसी शर्त के, बिना किसी भेदभाव के विश्वव्यापी हो। सभी प्राणियों के लिए आत्मीयता की भावना को ऐसा विकसित किया जाता है, जिसमें उन लोगों को भी सम्मिलित किया जा सकता हो जो हमारी हानि कर सकते हैं। इस करुणा की तुलना उस स्नेह से की जाती है जो एक माँ को अपने एकमात्र शिशु के लिए होती है।

[1]

लेकिन हम सबके प्रति समानता का भाव रखने को ही अन्तिम लक्ष्य के रूप में नहीं देखते हैं। बल्कि इसे वृहत् मैत्री को उत्पन्न करने के लिए सहायक समझते हैं। क्योंकि हमारी सहानुभूति की क्षमता सहज है एवं हमारी तर्क करने की क्षमता भी सहज है। करुणा में हमारे चित्त का स्वरुप परिलक्षित है। इसलिए हमारे अंदर इसको विकसित करने की क्षमता स्थिर एवं निरन्तर है। यह ऐसी सामग्री नहीं है जो उपयोग करने से घट जाती है या समाप्त हो जाती है जैसे जल उबालने पर समाप्त हो जाता है। यद्यपि इसका वर्णन एक गतिविधि के रूप में हम कर सकते हैं । यह उछलने का अभ्यास करने जैसा शारीरिक व्यायाम भी नहीं है, जिसमें एक ऊंचाई के बाद उससे और ऊँचा कूदना असम्भव है। उसके विपरीत सोच समझ कर और अपने हृदय को खोलकर जब हम दूसरों के दु:ख की ओर अपनी संवेदनशीलता बढ़ाते हैं,तब यह माना जाता है कि हम करुणा की क्षमता को धीरे धीरे उस हद तक ले जाते हैं, जहां हम औरों के अत्यंत छोटे दु:ख से भी इतने द्रवित हो जाते हैं कि हम उन पीड़ित प्राणियों के लिए स्वयं को गंभीर रूप से उत्तरदायी समझने लगते हैं। यह उस करुणावाले व्यक्ति को दूसरों के दु:ख एवं दु:ख के कारणों के निवारण के लिए पूर्ण रूप से समर्पित होने का कारण बनता है। तिब्बती में इस सर्वोच्च स्तर की प्राप्ति को “ञिङ्-जे छेनमो” कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है “वृहत करुणा”।

[2]

यहाँ मेरा सुझाव यह नहीं है कि हर व्यक्ति का नैतिकता पूर्ण जीवनयापन करने के लिए आध्यात्मिक विकास के ऐसे उच्च स्तर पर पहुँचना अनिवार्य है। मैंने “ञिङ्-जे छेनमो” का

वर्णन इसलिए नहीं किया है कि यह नैतिक आचार की पूर्व शर्त है ,बल्कि इसलिए किया, क्योंकि मेरा विश्वास है कि करुणा के तर्क को उच्चतम स्तर पर ले जाने का प्रयास एक प्रबल प्रेरणा का कार्य कर सकता है। अगर हम लोग "ञिङ्-जे छेनमो" अथवा वृहत् करुणा के विकास की प्रेरणा को ही अपना आदर्श बनाकर रखें तो हमारे दृष्टिकोण पर इसका गम्भीर प्रभाव स्वतः होगा।सिर्फ ऐसी सामान्य समझ के आधार पर कि मेरी तरह ही सारे प्राणी सुख की कामना करते हैं एवं दुःख नहीं चाहते हैं, यह हमें निरन्तर पक्षपात एवं स्वार्थ से बचने के लिए स्मरण करायेगा। यह हमें स्मरण कराता है कि अगर हम अपने नैतिक आचार को अपने प्रिय लोगों तक ही सीमित रखेंगे तो इसमें एक ख़तरा है कि हम इस दायरे से बाहर के प्राणियों की ओर अपने उत्तरदायित्व की अवहेलना करेंगे। यह हमें याद दिलाएगा कि ऐसी करुणा एवं उदारता से ज्यादा कुछ हासिल नहीं होगा क्योंकि इसके पीछे बदले में कुछ पाने की हमारी आशा थी। यह हमें स्मरण करायेगा कि अपने नाम के लिए किये गए कार्य स्वार्थपूर्ण हैं भले ही वे कार्य करुणामय दिखते हों। यह भी याद दिलाएगा कि अपने निकट के लोगों के लिए की गयी उदारता में कुछ भी विशिष्ट नहीं है। यह हमें यह पहचानने में भी मदद करेगा कि जो पक्षपात की भावना हम अपने परिवार के सदस्यों एवं मित्रों के लिए महसूस करते हैं वह वस्तुतः नैतिक आचार के लिए बहुत अविश्वनीय आधार है।

[3]

ऐसा क्यों है? जब तक वे व्यक्ति विशेष हमारी आशा के अनुसार कार्य करते हैं, तबतक सब कुछ ठीक रहता है। लेकिन अगर वे ऐसा न करें तो जिसे एक दिन हम प्यारा मित्र मानते थे, दूसरे दिन वह हमारा कट्टर शत्रु बन सकता है। जैसा हम देख चुके हैं, जब हमारी प्रतिक्रिया उन व्यक्तियों के प्रति शत्रुता वाली होती है जो हमारी प्रिय कामनाओं की पूर्ति में बाधा डालते हैं, चाहे वह कितने ही निकट के सम्बन्धी क्यों न हों? अतः करुणा एवं पारस्परिक सम्मान औरों से सम्बन्ध बनाने का अधिक ठोस आधार देते हैं । यह बात हर सम्बन्ध पर भी लागू होती है। ऐसे ही अगर हमारा किसी के लिए स्नेह मुख्यतः आकर्षण के कारण है, चाहे वह सौन्दर्य के प्रति हो अथवा किसी और बाहरी गुण के प्रति, वह आकर्षण समय के साथ निश्चय ही लुप्त हो जायेगा, जब उस व्यक्ति की वह लुभाने वाली विशेषता खत्म हो जाती है अथवा हमें उससे संतुष्टि मिलना बंद हो जाता है । परिस्थिति बिलकुल बदल सकती है, यद्यपि वह व्यक्ति वही है जो पहले था। यही कारण है कि केवल आकर्षण पर आधारित सम्बन्ध सर्वदा अस्थायी होते हैं। दूसरी तरफ जब हम अपनी करुणा को विकसित करने का प्रयास करते हैं, हमारी प्रवृति पर न तो दूसरों के रूप का प्रभाव होता है, न ही उनके व्यवहार का।

[4]

यह भी सोचिये कि दूसरों के प्रति हमारी भावना स्वभावतः से उनकी स्थिति पर काफी निर्भर करती है । अधिकतर लोग जब किसी विकलांग व्यक्ति को देखते हैं तो उनके प्रति सहानुभूति महसूस करते हैं। लेकिन वे जब किसी ऐसे व्यक्ति को देखते हैं जो उनसे धनी है अथवा ज्यादा शिक्षित है या समाज में उनसे उच्चतर स्थान पर है, तो उनमें तुरंत ईर्ष्या एवं प्रतिस्पर्धा की भावना खड़ी हो जाती है। हमारे नकारात्मक भाव हमें स्वयं एवं दूसरों की समानता को देखने से रोकते हैं। हम भूल जाते हैं कि वे बिलकुल हमारी तरह ही खुश रहना चाहते हैं एवं दुःख नहीं चाहते, चाहे वे सौभाग्यशाली हों या अभागे, निकटस्थ हैं या दूरस्थ।

[4]

इस प्रकार से असली संघर्ष है पक्षपात की भावना पर विजय पाने का। निश्चय ही अपने प्रिय जनों के प्रति सच्ची करुणा का विकास करना प्रारम्भ में सबसे स्पष्ट और समीचीन उपाय है। हमारे कार्यों का प्रभाव अपने निकट के लोगों पर दूसरों की तुलना में ज्यादा होता है एवं इसीलिए हमारा उत्तरदायित्व भी उनके प्रति अधिक होता है। लेकिन हमें मानना होगा कि अंततः उनके लिए पक्षपात करने का कोई आधार नहीं है। इस अर्थ में हम सभी एक ऐसे डॉक्टर की भूमिका में हैं, जिसके सामने एक ही व्याधि से ग्रस्त दस मरीज हैं, जो इलाज के लिए बराबर के हकदार हैं। लेकिन यहाँ पाठक यह नहीं सोचें कि यहाँ पर किसी अनासक्त उपेक्षा की वकालत की जा रही है। जब हम अपनी करुणा को सबके लिए बढ़ाने लगते हैं, तब इसके आगे एक महत्वपूर्ण चुनौती यह होती है कि हम सब के प्रति इस स्तर की घनिष्ठता बना कर रखें जैसा हम अपने निकटतम प्रियजनों के लिए अनुभव करते हैं। अन्य शब्दों में हमारा यह सुझाव है कि हम दूसरों के लिए समता का भाव जगाने का प्रयास करें, जो एक ऐसी समतल भूमि बन जाये जिसमें हम ञिङ्-जे छेन्मो, वृहत मैत्री एवं करुणा के बीज बो सकें ।

[5]

अगर हम औरों से समता के आधार पर सम्बन्ध बनाना आरम्भ करेंगे, हमारी करुणा इस तथ्य पर आश्रित नहीं रहेगी कि कौन मेरे पति हैं, मेरी पत्नी है, मेरे सम्बन्धी हैं, मेरे मित्र हैं । बल्कि, दूसरों के प्रति घनिष्ठता के भाव का बोध इस साधारण सी मान्यता से हो सकता है कि मेरी ही तरह सभी सुखी रहना चाहते हैं एवं दुःख से दूर रहना चाहते हैं । दूसरे शब्दों में, दूसरों के साथ हम सम्बन्ध इस आधार पर बनाने लगेंगे कि वे चेतन प्राणी हैं। पुनः, हमें ऐसा लग सकता है कि यह एक ऐसा आदर्श है जिसे प्राप्त करना बहुत कठिन है । लेकिन मुझे अपने लिए यह एक बहुत प्रेरणादायक और सहायक आदर्श लगा है ।

[6]

अब हम अपने दैनिक जीवन में करुणामय स्नेह एवं दयालुता की भूमिका के स्थान पर विचार करते हैं। क्या करुणा के आदर्श के विकास को इस सीमा तक ले जाना कि वह बिना किसी शर्त के हो, उसका अर्थ यह होगा कि हम अपने हित की पूर्णतया अवहेलना कर दें? बिलकुल नहीं। सत्य तो यह है कि यह स्वयं के हित का सबसे उत्तम उपाय है--वास्तव में कोई यह भी कह सकता है कि अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए यह सबसे बुद्धिमानी वाला उपाय है। क्योंकि यह सत्य है कि सुख में स्नेह, शान्ति , सहिष्णुता, एवं क्षमाशीलता जैसे गुण सम्मिलित हैं। यह भी सत्य है, जैसा मैंने परिभाषित किया, करुणा अथवा ञिङ्-जे गुणों का स्रोत एवं फल दोनों ही है। इस प्रकार हम जितना अधिक करुणामय होंगे उतना ही अधिक सुखी रहेंगे। इसलिए, ऐसी धारणा बिलकुल गलत है कि दूसरों के हित की कामना, जो भले ही सद्गुण हो, हमारे निजी व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित है। करुणा का जीवन के हर क्षेत्र में स्थान है, जिसमें हमारा कार्यालय भी अवश्य ही सम्मिलित है।

[7]

यहाँ मुझे अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए कि कई लोगों को ऐसा आभास होता है कि व्यावसायिक जीवन में करुणा अगर वास्तव में बाधक नहीं है तो कम से कम असम्बद्ध तो है ही । व्यक्तिगत रूप से मैं कहूँगा कि करुणा न केवल सदैव ही प्रासंगिक है, बल्कि करुणा के अभाव में हमारे कार्यों के विध्वंसकारी होने की सम्भावना बनी रहती है। यह इसीलिए है कि अगर हम अपने कार्य द्वारा दूसरों के कल्याण पर होने वाले प्रभाव के प्रश्न को अनदेखा कर जाते हैं तो हम अवश्य ही अंततः उन्हें कष्ट देते हैं। करुणा की नैतिकता हमें संयम एवं सद्गुण विकसित करना, दोनों के लिए आवश्यक आधार एवं प्रोत्साहन देती है । जब हम करुणा के मूल्य की सच्ची सराहना करने लगते हैं, हमारा दूसरों की ओर देखने का तरीका स्वतः बदलने लगता है । यह अकेले ही हमारी जीवनचर्या के लिए अत्यन्त प्रभावशाली हो सकता है । उदाहरण के लिए जब हममें किसी से छल करने की लालसा जगती है तब हमारी उनके प्रति करुणा हमें ऐसे विचार करने से रोकती है। जब हमें यह आभास हो जाता है कि हमारा व्यवसाय ही दूसरों की क्षति करने के लिए दुष्प्रयोग के खतरे में है, तब करुणा हमें ऐसे व्यवसाय में प्रवृत होने से रोकने में सहायता करेगी। हम कल्पना करें एक ऐसे वैज्ञानिक के बारे में जिसका अनुसन्धान दूसरों के दुःख का स्रोत बन सकता है । वह इसे समझ लेगा और तदुनसार कार्य करेगा, चाहे उसके लिए उस अनुसन्धान को त्यागना ही क्यों न पड़े ।

[8]

मैं इस बात से इनकार नहीं कर रहा हूँ जब हम स्वयं को करुणा के आदर्श के लिए समर्पित कर देते हैं तब वास्तविक समस्याएँ सामने आ सकती हैं। एक वैज्ञानिक के दृष्टान्त में जो करुणा के कारण, अनुसन्धान उसे जिस दिशा में ले जा रहा है, अपना कार्य जारी नहीं

रख पाता है, इसका उसके एवं उसके परिवार के लिए गंभीर परिणाम हो सकता है। इसी प्रकार ऐसे लोग जिनका व्यवसाय लोगों की सेवा करना होता है—स्वास्थ्य, मनश्चिकित्सा, समाज सेवा इत्यादि—अथवा वह भी जो घर में किसी की देखभाल करते हैं, कई बार अपने काम से इतने थक जाते हैं कि वे धराशायी हो जाते हैं। लगातार दुःख को देखने से, एवं इसके साथ कभी कभी ऐसा महसूस करने से कि उसके कार्य का सम्मान नहीं हो रहा है, व्यक्ति असहाय महसूस करने लगता है, यहाँ तक कि कई बार निराशा की भावना भी हो सकती है। अथवा ऐसा संभव है कि व्यक्ति स्वयं को बाहर से दया वाले कार्य का पालन करता हुआ पाये —सिर्फ कहने के लिए—एक यन्त्र की तरह बिना सोचे समझे। अवश्य ही यह कुछ नहीं करने से तो बेहतर है। लेकिन अगर इस पर ध्यान नहीं दिया जाये तो इससे औरों के दुःख के प्रति लोग असंवेदनशील हो सकते हैं। अगर ऐसा होने लगता है तो अच्छा है कि कुछ समय के लिए उस कार्य से हट जाएँ एवं संवेदनशीलता को पुनः लाने के लिए प्रयास करें। ऐसी परिस्थिति में यह स्मरण करना लाभकर होगा कि निराशा कोई समाधान नहीं है। बल्कि यह बड़ी असफलता है। इसीलिए तिब्बती भाषा में एक उक्ति है कि अगर रस्सी नौ बार टूट जाये, हमें उसे दसवीं बार वापस जोड़ना चाहिए । इस प्रकार से अगर अंत में असफल भी हो जायें तो भी कम से कम हमें कोई पश्चाताप नहीं होगा। जब हम इस समझ को अपनी दूसरों के हित करने की क्षमता की सराहना के साथ जोड़ कर देखते हैं तब हम पाते हैं कि हमारे भीतर विश्वास एवं आशा फिर से जगने लगते हैं।

[9]

कुछ लोगों को इस आदर्श के प्रति इस आधार पर आपत्ति हो सकती है कि अगर हम दूसरों के दुःख में प्रवेश करेंगे तो हम स्वयं पर भी दुःख लाएंगे। कुछ हद तक, यह सत्य है। लेकिन मेरा सुझाव है कि हमें स्वयं के दुःख का अनुभव करने एवं दूसरों के दुःख को बांटने में जो दुःख का अनभव होता है इन दोनों के बीच के महत्वपूर्ण गुणात्मक अंतर को समझना चाहिये। स्वयं के दुःख के सन्दर्भ में, चूँकि यह दुःख स्वेच्छा से नहीं है, वहां उत्पीड़न का भाव है, क्योंकि यह बाहर से आया हुआ लगता है। इसके विपरीत किसी और के दुःख में साझेदारी करने में कुछ हद तक हमारे अंदर स्वेच्छा का भाव रहता है, जो अपने में ही कुछ आन्तरिक शक्ति का संकेत है। इस कारण, जो परेशानी हमें दूसरों के दुःख से हो सकती है वह शायद अपने स्वयं के दुःख की तुलना में हमें काफी कम शक्तिहीन करेगा।

[10]

निश्चय ही एक आदर्श के रूप में भी, बिना शर्त के करुणा को विकसित करना चुनौतीपूर्ण कार्य है। अधिकतर लोगों को, जिसमें मैं भी सम्मिलित हूँ, इस बिन्दु पर पहुँचने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए जहाँ दूसरों के हित कोअपने हित के बराबर रख सकना आसान हो जाये। लेकिन, इसे हमें रोकने नहीं देना चाहिए। जहाँ सच्चे करुणापूर्ण हृदय

के विकास में निःसंदेह बाधा आएगी वहां हमें यह जानकर गहरी सांत्वना होगी कि ऐसा कर हम स्वयं के सुख के कारणों को उत्पन्न कर रहे हैं। जैसा कि मैंने पहले कहा था हम जितना दूसरों का कल्याण करने के लिए सच्ची कामना करेंगे, हम उतना ही भीतर से अधिक शक्तिशाली एवं आत्मविश्वासी होंगे एवं हम उतना ही अधिक शांति एवं सुख काअनुभव करेंगे। अगर यह फिर भी असंभव लगे तो उचित है कि हम स्वयं से यह प्रश्न करें कि हम और क्या कर सकते हैं । क्या हम हिंसा एवं आक्रमण का सहारा ले सकते हैं? अवश्य ही नहीं। क्या हम पैसे का सहारा ले सकते हैं? यह शायद कुछ हद तक संभव है लेकिन उससे आगे नहीं। तो क्या स्नेह से औरों के दुःख में साझेदारी कर के, दूसरों को स्वयं के समान मान कर–विशेष कर उन लोगों के साथ जो प्रतिकूल परिस्थिति में हैं एवं जिनके अधिकारों का सम्मान नहीं है–उनके सुख के लिए प्रयास करना चाहिए? उत्तर है–हाँ। मैत्री से, स्नेह से, करुणा से हम स्वयं एवं औरों के बीच एक समझ की स्थापना करते हैं। इस तरह से हम एकता एवं सामंजस्य का निर्माण करते हैं ।

[11]

करुणा एवं मैत्री सिर्फ विलासिता की बाते नहीं हैं। ये आतंरिक एवं बाहरी दोनों प्रकार की शान्ति के स्रोत के रूप में, हम मनुष्यों के जीवित रहने के लिए नितांत आवश्यक हैं। एक ओर ये अहिंसा को कार्य में प्रकट करती हैं तो दूसरी ओर ये क्षमाशीलता, सहिष्णुता जैसे सभी आध्यात्मिक गुणों का स्रोत है। इससे आगे ये वही हैं जो हमारी सारी गतिविधियों को सार्थक एवं सकारात्मक बनाती हैं। बहुत शिक्षित होने में ही कोई अद्भुत बात नहीं है, धनवान होने में भी कोई अद्भुत बात नहीं है। जब किसी व्यक्ति का ह्रदय करुणामय होता है, तभी शिक्षा अथवा धन का कोई मूल्य होता है।

[12]

जो लोग यह कहते हैं कि बिना शर्त के स्नेह की वकालत कर दलाई लामा वास्तविकता से दूर जा रहे हैं, उनसे मैं फिर भी विनती करता हूँ कि वे इसका प्रयोग कर देख लें। वे पाएंगे कि जब हम संकीर्ण निजी स्वार्थ के दायरे से बाहर निकलते हैं तो हमारे ह्रदय में शक्ति आ जाती है। शांति और उल्लास हमारे अभिन्न मित्र बन जाते हैं। यह हर तरह की दीवारों को ध्वस्त करता है एवं अंत में अपने हित को दूसरों के हित से असम्बद्ध समझने के भाव को समाप्त करता है। लेकिन जहाँ तक नैतिकता का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है, जहाँ हम पाते हैं कि अपने पड़ोसी के लिए स्नेह, मैत्री, एवं करुणा विद्यमान है, वहाँ नैतिक आचार सहज हो जाता है। करुणा से प्रभावित होने पर नैतिक व कुशल आचार खुद-व-खुद प्रकट हो जाते हैं ।

[13]

मनन योग्य प्रश्न

१. कृपया अपने शब्दों में ञिङ्-जे चेन्मो का वर्णन करें।

२. लेखक की सलाह क्या है कि हम उन लोगों से कैसे बर्ताव करें जो हमारे रिश्तेदार या करीबी दोस्त नहीं हैं?

अध्याय 9 - नैतिकता एवं दुःख

मैंने सुझाव दिया है कि हम सभी सुख चाहते हैं, वास्तविक सुख का लक्षण है शान्ति, और शांति निश्चय ही तब प्राप्त होती है जब हमारे आचरण दूसरों के हित की कामना से प्रेरित है, जिसमें नैतिक अनुशासन एवं क्लेशकरी भावनाओं से सकारात्मक रूप से निबटने का प्रयास निहित है। मैंने यह भी सुझाव दिया है कि सुख की खोज में हम स्वाभाविक रूप से एवं अच्छी तरह दुःख से दूर रहना चाहते हैं। अब हम इस गुण अथवा अवस्था का परीक्षण करते हैं, जिससे हम यथासंभव दूर तो रहना चाहते हैं, लेकिन जो हमारे अस्तित्व के केंद्र में है ।

[1]

दुःख एवं पीड़ा जीवन के अपरिहार्य सत्य हैं। मेरी परिभाषा में एक सचेतन प्राणी वह है, जिसमें पीड़ा एवं दुःख की संवेदनशीलता की क्षमता है। कोई यह भी कह सकता है कि हमारा दुःख का अनुभव ही हमें औरों से जोड़ता है। यह हमारी सहानुभूति की क्षमता का आधार है। लेकिन इसके आगे हम देख सकते हैं कि दुःख को आपस में जुड़े हुए दो वर्गों में बांटा जा सकता है। पहले वर्ग में दुःख के वे प्रकार हैं, जिनसे बचना संभव है जो युद्ध, निर्धनता, हिंसा, अपराध, यहाँ तक कि अशिक्षा एवं कुछ रोगों के कारणवश प्रकट होते हैं। दूसरे वर्ग में वे दुख हैं, जिनसे बचना सम्भव नहीं है, जैसे रोग, वृद्धावस्था, एवं मृत्यु। अभी तक हमारी चर्चा मानव कृत, परिहार्य दुःखों के बारे में हुई है। अब मैं उस दुःख को निकट से देखूँगा जो अपरिहार्य है ।

[2]

जिन समस्याओं एवं कठिनाइयों का हम जीवन में सामना करते हैं वे सभी प्राकृतिक आपदाओं की तरह नहीं होती हैं । हम उन आपदाओं से अपनी सुरक्षा सिर्फ कुछ सावधानी बरत कर नहीं कर सकते, जैसे खाने की सामग्री को इकट्ठा कर । उदाहरण के लिए बीमारी की अवस्था को लें, हम चाहे अपने शरीर को कितना भी चुस्त रखें एवं अपने भोजन का कितना भी ख्याल रखें, अंततः हमें शारीरिक समस्याओं से हार माननी ही पड़ती है। जब ऐसा होता है, उसका हमारे जीवन पर गंभीर असर पड़ सकता है, इस कारण हम शायद वह सब कुछ नहीं कर पाएं जो हम करना चाहते हैं एवं उन स्थानों पर नहीं जा पायें, जहाँ हम जाना चाहते हों । अक्सर हम वह खाना नहीं खा सकते हैं जो हमें अच्छा लगता है । उसके स्थान पर हमें ऐसी दवाइयाँ खानी पड़ती हैं, जिनका स्वाद बुरा होता है । जब स्थिति वाकई खराब हो जाती है, हमें दिन रात पीड़ा सहनी पड़ती है--कभी कभी पीड़ा इतनी तीव्र होती है कि हम मर जाना चाहते हैं ।

[3]

जहाँ तक वृद्धावस्था का प्रश्न है, जिस दिन हमारा जन्म होता है उस दिन से ही हमारे सामने बूढ़े होना एवं युवावस्था के लचीलेपन का समाप्त होना अवश्यम्भावी रहता है। समय आने पर हमारे बाल झड़ जाते हैं, हमारे दांत गिर जाते हैं, हमारी आँखें कमजोर हो जाती हैं एवं सुनायी कम देने लगता है। जिस स्वादिष्ट भोजन का हम आनंद लेते थे, अब हम उसे पचा नहीं पाते हैं। अंततः हम पाते हैं कि हम उन घटनाओं को स्मरण नहीं कर पाते हैं जो कभी स्पष्ट हुआ करती थीं, यहाँ तक कि हम अपने निकटतम व्यक्तियों के नाम भी भूलने लगते हैं। अगर हम काफी लम्बे समय तक जी गए तो सम्भव है कि हम ऐसी जीर्णावस्था में पहुँच जायेंगे जहाँ लोगों को हमें देख कर घृणा होगी यद्यपि वही समय है जब हमें उनकी सबसे ज्यादा जरूरत होगी।

[4]

फिर मृत्यु की बात आती है ऐसा लगता है कि आधुनिक समाज में इस विषय पर चर्चा शायद निषेध है। अंततोगत्वा शायद हम मृत्यु का एक मुक्ति के रूप में कामना करें चाहे इसके पश्चात कुछ भी होता हो, मृत्यु का अर्थ है अपने प्रिय जनों, अपनी सम्पत्ति से एवं अपनी हर प्रिय वस्तु से वियोग हो जाना ।

[5]

अपरिहार्य दुःख के संक्षिप्त वर्णन में हमें अवश्य ही एक और वर्ग जोड़ना चाहिए। यह ऐसा दुःख है, जो अनिष्ट से होता है--जैसे अप्रिय घटना और दुर्घटना का सामना होना। यह वह दुःख है जिसमें, हमसे हमारी इष्ट वस्तु छीन ली जाती है--जैसे हम शरणार्थी अपना देश खो बैठे एवं कई लोगों को अपने प्रिय जनों से विवश हो कर बिछड़ना पड़ा। यह ऐसा दुःख है, जो हमें इष्ट वस्तु की अप्राप्ति से होता है, जिसे पाने के लिए हमने बड़ा प्रयास किया हो। खेतों में कमरतोड़ परिश्रम के पश्चात भी फसल नहीं होती है, व्यवसाय पर दिन रात कार्य करने पर भी सफलता नहीं मिलती है । ये हमारी बिना किसी गलती के दुःख है । इस दुःख में वह भी शामिल है,जो अनिश्चितता के कारण होता है । हमें कभी पता नहीं होता कि कब और कहाँ हमें विपत्ति का सामना करना होगा। अपने स्वयं के अनुभव से हम सभी जानते हैं कि इससे कैसे असुरक्षा एवं चिंता की भावना उत्पन्न होती है। फिर, हम जो भी करते हैं उसका विनाश करता है संतुष्टि के अभाव का दुःख, जो तब भी रहता है, जब हम अपनी हर कामना हासिल कर चुके होते हैं। ऐसी घटनाएँ हम मनुष्यों, जो सुख चाहते हैं एवं दुःख नहीं चाहते हैं, के दैनिक जीवन का हिस्सा हैं।

इतना ही नहीं, इससे आगे भी यह तथ्य है कि हमारे अनुभव जिन्हें हम सामान्य रूप से सुखदायक समझते हैं, वे सारे दुःख का स्रोत बन जाते हैं। ऐसा लगता है कि वे सन्तुष्टि देते हैं , लेकिन वास्तव में वे सुख नहीं देते।

इस घटना का विवरण हम सुख की चर्चा के दौरान देख चुके हैं। वास्तव में अगर हम इस पर ध्यान देते हैं तो पाते हैं कि हम उन्हें तभी तक सुखदायक पाते हैं, जब तक वे प्रकट दुःख को कम करते हैं, वैसे ही जैसे भोजन करने से भूख का दुःख कम होता है । हम एक निवाला लेते हैं, फिर दो, तीन, चार, पांच एवं अनुभव का आनन्द लेते हैं, लेकिन शीघ्र ही, यद्यपि वही व्यक्ति है एवं वही भोजन है, हमें खाना अरुचिकर लगने लगता है । अगर हम नहीं रुकते हैं तो अंततः यह हमारी हानि ही करेगा, ऐसे ही जैसे लगभग हर लौकिक सुख अति में पहुँचने पर हमारी हानि करता है। इसीलिए, अगर हमें वास्तविक रूप से सुखी होना है तो संतुष्टि अत्यंत महत्वपूर्ण है।

[7]

ये सभी दुःख के विभिन्न रूप वास्तव में अपरिहार्य हैं, एवं अस्तित्व के प्राकृतिक स्वभाव हैं । इसका अर्थ यह नहीं है कि, अंततः, हम इसके लिए कुछ नहीं कर सकते हैं, न ही मेरा अभिप्राय यह है कि इसका नैतिक अनुशासन के प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सत्य है कि बौद्ध एवं अन्य प्राचीन भारतीय दर्शनों के अनुसार दुःख को कर्म के परिणाम के रूप में देखा जाता है। जैसा कि बहुत से लोग - पश्चिमी एवं पूर्वी दोनों ही - सोचते हैं कि हमारे साथ होने वाली हर बात पहले से सुनिश्चित है। लेकिन यह बिलकुल मिथ्या है। निश्चय ही हम यह बहाना नहीं बना सकते हैं कि हम जिस भी स्थिति में स्वयं को पाते हैं हम उसका उत्तरदायित्व नहीं लें।

[8]

चूँकि "कर्म" शब्द दैनिक शब्दावली का अंग बन चुका है, यह उचित होगा कि हम इसके अर्थ को थोड़ा स्पष्ट करें। कर्म संस्कृत भाषा का एक शब्द है, जिसका अर्थ है "करना"। इसका तात्पर्य है एक क्रियाशील बल, जिसका अर्थ है भविष्य के परिणाम पर हमारे कर्म का प्रभाव होता है। यह सोचना कि कर्म एक स्वतन्त्र ऊर्जा है, जो पूरे जीवन को पहले से निर्धारित करती है, बिलकुल गलत है। कर्म का सृजन कौन करता है? हम स्वयं करते हैं। हम जो सोचते हैं, कामना करते हैं, कार्य करते हैं या जो त्याग करते हैं, उससे कर्म का सृजन होता है। उदाहरण के लिए जैसे मैं लिखता हूँ, यह कार्य नई परिस्थितियां खड़ी करता है, जिससे कुछ और घटनाएँ होती हैं। मेरे शब्दों से पाठकों के मन में प्रतिक्रिया होती है। हम जो भी करते हैं उसमें कार्य एवं फल निहित है। अपनी दिनचर्या में जो भोजन हम ग्रहण करते हैं, जो व्यवसाय हम करते हैं और जैसे विश्राम करते हैं, वह सभी हमारी क्रिया की गतिविधि है: हमारी क्रिया। यही कर्म है। इसीलिए जब भी हमारा अपरिहार्य दुःख से सामना होता है, हम अपने हाथ खड़े नहीं कर सकते हैं, अर्थात् हम अपने उत्तरदायित्व को नहीं नकार सकते हैं। ऐसा कहना सही नहीं है कि हर दुर्भाग्यशाली घटना बुरे कर्म का फल है, क्योंकि यह ऐसा कहने के समान होगा कि हम जीवन में नितांत असहाय हैं। अगर

ऐसा होना सत्य होता तो फिर आशा की कोई किरण नहीं होगी एवं हम शायद विश्व के समाप्त होने की प्रार्थना करते।

[9]

हेतु एवं फल की सही समझ यह दर्शाती है कि असहाय होने की बात तो दूर, हम अपने दुःख निवारण के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं । वृद्धावस्था, रोग एवं मृत्यु अवश्यंभावी हैं। लेकिन जैसा कि नकारात्मक भावनाएँ और विचारों के कष्ट की बात है, हमारे पास निश्चय ही यह विकल्प है कि हम दुःख की घटनाओं के प्रति हम कैसी प्रतिक्रिया करें। अगर हम चाहें तो उनके निदान का प्रयास संयम एवं विवेक के साथ कर सकते हैं, जिसके आधार पर हम प्रतिक्रिया को अनुशासित कर सकते हैं। अन्यथा हम सिर्फ अपने दुर्भाग्य को कोस सकते हैं। लेकिन हम जब ऐसा करते हैं, हमें खीझ होती है। इसके परिणाम में क्लेशपूर्ण भावनाएँ उत्पन्न होती हैं एवं हमारी मन की शांति भंग हो जाती है। अगर हम अपने दुःख के प्रति नकारात्मक रूप से प्रतिक्रिया करने की इच्छा को नहीं रोकते हैं तो यह नकारात्मक विचारों एवं मनोभावनाओं का स्रोत बन जाती है। इसीलिए दुःख का हमारे दिल और दिमाग पर प्रभाव एवम् हमारे आंतरिक अनुशासन के अनुशीलन के अभ्यास के बीच बिल्कुल सीधा सम्बन्ध है।

[10]

दुःख के प्रति हमारा मूलभूत रवैया क्या है हम दुःख को कैसे अनुभव करते हैं इसका हम पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, कल्पना करें कि दो व्यक्ति एक ही प्रकार के कैंसर के अन्त्य रोगी हैं । लेकिन दोनों व्यक्तियों में केवल दृष्टिकोण का अंतर है। एक रोगी इस परिस्थिति को स्वीकार करता हैं एवं अगर संभव हो तो इसे आंतरिक शक्ति के विकास के अवसर में बदल लेता है। दूसरे रोगी में इसकी प्रतिक्रिया होती है भय की, कड़वेपन की एवं भविष्य को लेकर चिन्ता की। यहाँ सिर्फ शारीरिक लक्षणों के आधार पर दोनों व्यक्तियों के बीच में रोग का कोई फर्क नहीं है, जिससे वे पीड़ित हैं, लेकिन वास्तव में दोनों के बीच यह अंतर है कि वे रोग को कैसे अनुभव करते हैं। दूसरे व्यक्ति के सन्दर्भ में शारीरिक दुःख के साथ मानसिक पीड़ा भी जुड़ी हुई है।

[11]

यंहा यह दर्शाता है कि दुःख हमें कितना परेशान करता है, वह काफी हद तक स्वयं पर निर्भर करता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि हम दुःख के अनुभव को उचित दृष्टिकोण से देखें । हम पाते हैं कि जब हम किसी समस्या को निकट से देखते हैं, वह हमारी सम्पूर्ण दृष्टि को ढक लेती है एवं बहुत बड़ी लगती है। लेकिन उसी समस्या को जब हम दूर से देखते हैं, स्वतः ही हम उसे अन्य तथ्यों से जोड़ कर देखने लगते हैं। यह छोटा सा उपाय

बड़ा अंतर लाता है। यह हमें देखने का अवसर देती है,यद्यपि परिस्थिति विशेष अत्यंत दुःखद होती है। सबसे दुर्भाग्यशाली स्थिति के भी बहुत सारे पहलू होते हैं एवं उसे कई आयामों से सम्हाला जा सकता है। वास्तव में ऐसा विरले ही होता है, अगर असम्भव न हो कि कोई परिस्थिति नकारात्मक हो चाहे हम जैसे भी देखें।

[12]

जब कभी हमें दुखद घटना अथवा दुर्भाग्य का सामना करना होता है, जो निश्चय ही होता है, हमें इससे सहायता मिलती है, अगर हम इस घटना की तुलना- दूसरी घटना के साथ करें जो इतनी ही या इससे ज्यादा दुखदायी थी, जो हमारे साथ अथवा किसी और के साथ पहले कभी घट चुकी हो । अगर हम वास्तव में अपना ध्यान स्वयं से हटा कर दूसरों की तरफ मोड़ लेते हैं, तो हम अपने दुःख से मुक्ति का अनुभव करते हैं। स्वयं में डूबे रहने एवं अपनी ही चिंता में लगे रहने में कुछ ऐसा है, जिससे हमारा दुःख और विराट दिखता है । इसके विपरीत अगर हम इसे औरों के दुःख के सन्दर्भ में देखते हैं, तो हमें आभास होता है कि अपेक्षाकृत हमारा दुःख उतना असहनीय नहीं है। इससे हमें अपनी मानसिक शान्ति बनाये रखने में सहायता मिलती है, बनिस्बत ऐसी अवस्था के जब हम सबकी समस्या को छोड़ कर अपनी ही समस्या पर ध्यान देते हैं ।

[13]

जहाँ तक मेरे अपने अनुभव का प्रश्न है, उदाहरण के लिए जब मुझे तिब्बत से अशुभ समाचार मिलता है—जैसा कि दुर्भाग्य से अकसर होता रहता है--स्वाभाविक रूप से मेरी प्रथम प्रतिक्रिया गहन दुःख की होती है । लेकिन इस दुःख को उचित सन्दर्भ में रखकर एवं स्वयं को स्मरण कराके कि मनुष्य की स्नेह, स्वाधीनता, सत्य एवं न्याय की ओर मूलभूत प्रवृत्ति की अंततः निश्चय ही विजय होगी, मैं इस दुःख को यथासंभव अच्छी तरह सम्हाल पाता हूँ। इस प्रकार अत्यन्त दुखदायी समाचार के पश्चात भी असह्य क्रोध की भावना कम उठती है, जो मन को विषाक्त, हृदय को कड़वा एवं आत्मा को दुर्बल करने के अलावा और कुछ नहीं करती ।

[14]

यह भी स्मरण करने योग्य है कि ज्ञान एवं आंतरिक शक्ति की बड़ी उपलब्धि विराट कठिनाइयों के समय ही होती है। सही मार्ग के प्रयोग से--एवं यहाँ हम पुनः सकारात्मक प्रवृत्ति की महत्ता को देखते हैं--दुःख का अनुभव हमारी आंखों को नई सच्चाई लिए खोल सकता है । उदाहरण के लिए मेरे शरणार्थी जीवन के अनुभव ने मुझे यह सिखाया कि वह अनगिनत औपचारिकताएं, जो तिब्बत में मेरे जीवन का अहम हिस्सा थीं, वे कितनी व्यर्थ थीं। हम पाते हैं कि दुःख के परिणाम स्वरुप हमारा आत्मविश्वास, हमारी आत्मनिर्भरता

एवं हमारा साहस बढ़ता है। हम दुनिया में अपनी चारों तरफ की घटनाओं को देख कर यह अच्छी तरह समझ सकते हैं। उदाहरण के लिए हमारे अपने शरणार्थी समुदाय में प्रवास के आरम्भ के दिनों के उत्तरजीवियों में ऐसे लोग हैं, जिन्होंने बहुत कष्ट का सामना किया, लेकिन वही सबसे आध्यात्मिक--एवं प्रसन्न चित्त लोग हैं—जिन्हें मुझे जानने का सौभाग्य हुआ । इसके विपरीत हम पाते हैं कि ऐसे भी लोग हैं जिनके पास सब कुछ है, लेकिन छोटी सी कठिनाई आने पर भी उनमें आशा खो कर हताश हो जाने की प्रवृत्ति रहती है। समृद्धि से बिगड़ जाने की हमारी स्वाभाविक आदत है। उसका परिणाम यह होता है कि हम पाते हैं कि हमारे अंदर कठिनाइयों जिनका सामना हम सभी को समय समय पर करना पड़ता है को क्रमशः आसानी से सहन करने की क्षमता घटती जाती है ।

[15]

अब हम देखते हैं कि जब हमें किसी विशेष समस्या का सामना करना पड़ता है, तब हमारे पास क्या विकल्प होते हैं। एक चरम सीमा यह है कि हम समस्या को अपने ऊपर पूर्णतया हावी होने दें। दूसरी यह कि हम इसे अनदेखा कर पिकनिक पर चले जाये या अवकाश ले कर इसकी अवहेलना कर दें। तीसरा विकल्प यह है कि हम परिस्थिति का सीधा सामना करें। इसके लिए हमें उस समस्या का परीक्षण करना होता है, विश्लेषण करना होता है, कारणों की जांच करनी होती है एवं उनके समाधान के उपाय ढूढ़ने होते हैं ।

[16]

यद्यपि यह तीसरा विकल्प शायद हमें कभी कभी थोड़े समय के लिए और कष्ट दे, यह दूसरे दो विकल्पों से ज्यादा उत्तम है । अगर हम किसी समस्या को नज़रअंदाज़ कर या शराब अथवा नशीले पदार्थों में डूबकर अनदेखा या अस्वीकार करते हैं, या यहाँ तक कुछ खास प्रकार के ध्यान या प्रार्थना की सहायता से छुटकारा चाहते हैं तो थोड़े समय के लिए राहत मिलने की सम्भावना है, लेकिन समस्या तो रह ही जाती है। ऐसे उपाय सिर्फ समस्या से दूर भागने के साधन हैं न कि उसके समाधान के। पुनः उनमें प्रारंभिक समस्या के अतिरिक्त संकट यह है कि ऐसा करने पर मूल समस्या के साथ साथ मानसिक एवं भावनात्मक क्लेश भी चले आते हैं । चिंता, भय एवं शंकाएँ घेर लेती हैं । अंततः इससे क्रोध एवं हताशा हो सकती है, जिसके साथ और अधिक दुःख होने की सम्भावना (स्वयं के लिए भी एवं औरों के लिए भी) बनी रहती है ।

[17]

कल्पना करें ऐसी दुर्घटना की, जैसे किसी के पेट में बंदूक की गोली लगी हो। दर्द भयानक है। हमें क्या करना चाहिए? अवश्य ही हमें गोली निकलवानी चाहिए, जिसके लिए हम सर्जरी करवायें। किन्तु ऐसा करने से कष्ट और भी बढ़ता है । फिर भी हम इस कष्ट को

पहले वाली समस्या के निदान के लिए स्वेच्छा से सहन करते हैं । ऐसे ही घाव या किसी बड़े विनाश से बचने के लिए या जान बचाने के लिए शायद किसी के लिए कोई अंग खोना आवश्यक हो । लेकिन पुनः, स्वाभाविक रूप से हम छोटे कष्ट को सहन करने के लिए तैयार रहते हैं, अगर इससे मृत्यु जैसे बड़े कष्ट से बचने में सहायता मिले। यह व्यावहारिक ज्ञान की बात है कि हम स्वेच्छा से कष्ट झेलते हैं अगर हमें दिखता है कि ऐसा करने से हमें बड़े कष्ट से छुटकारा मिलेगा । ऐसा कहते हुए मैं ख़ुद मानता हूँ कि यह निर्णय लेना हमेशा आसान नहीं है। जब मैं छह या सात वर्ष का था, मुझे छोटी चेचक का टीका लगाया गया था । अगर मुझे पता होता कि इसमें इतना कष्ट होगा मुझे संदेह है कि कोई मुझे यह कह कर मना पाता कि टीके का कष्ट छोटी चेचक के कष्ट से कम था । टीके का दर्द दस दिनों तक रहा एवं मेरी बांह पर अभी भी इसका बड़ा सा निशान है!

[18]

अगर दुःख से सीधे टक्कर लेने की बात कभी कठिन लगे, यह स्मरण करने से काफी सहायता मिलती है कि हम जो भी सामान्य रूप से अनुभव करते हैं, उसमें कुछ भी स्थायी नहीं है। हर वस्तु एवं घटना स्वभाव से परिवर्तनशील एवं विनाशमय है। मैंने यथार्थ का जो पहले विवरण दिया था, उसके अनुसार अगर हम ऐसा सोचें कि हमारे दुःख या सुख के अनुभव के कारण को किसी इकलौते स्रोत पर मढ़ा जा सकता है, तो हम गलत होंगे। प्रतीत्यसमुत्पाद के दर्शन के अनुसार जो भी उत्पन्न होता है, वह असंख्य हेतु एवं प्रत्यय के सन्दर्भ में होता है। अगर ऐसा नहीं होता तो फिर हम जब भी किसी ऐसी चीज के संपर्क में आते जिसे हम उत्तम समझते हैं, तो हम स्वतः प्रसन्न हो जाते एवं हम जब भी किसी ऐसी चीज के संपर्क में आते जिसे हम निकृष्ट समझते हैं, हम स्वतः दुखी हो जाते। तब प्रसन्नता एवं दुःख के कारणों को पहचानना आसान होता एवं जीवन काफी सरल होता। हमारे पास कुछ तरह के लोगों, घटनाओं अथवा वस्तुओं से आसक्त होने का सही कारण होता एवं औरों से क्रुद्ध होने या दूर रहने का भी कारण होता। लेकिन वस्तु स्थिति यह नहीं है।

[19]

व्यक्तिगत रूप से मुझे प्रसिद्ध भारतीय विद्वान संत शान्तिदेव का दुःख निवारण के लिए प्रस्तुत सुझाव अत्यन्त लाभदायक लगता है । उन्होंने कहा था कि यह महत्वपूर्ण है कि जब हम किसी भी विपदा का सामना करें, हम उसे अपने आप को पक्षाघात नहीं करने दें। अगर हम ऐसा करेंगे,तो हमें उससे विह्वल होने का संकट है । बल्कि हमें अपनी सोचने की शक्ति का प्रयोग कर समस्या के स्वभाव का विश्लेषण करना चाहिए । अगर हम पाएं कि कोई ऐसा उपाय है, जिससे हम उस समस्या का समाधान कर सकते हैं, फिर चिंता की कोई बात नहीं है। विवेकपूर्ण बात यह होगी कि हम अपनी पूरी ऊर्जा समस्या के समाधान को ढूंढने एवं उस पर कार्य करने में लगा दें। दूसरी ओर अगर हम पायें कि उस समस्या का कोई

समाधान नहीं है, तो फिर उस पर चिंता करना व्यर्थ है। अगर परिस्थिति को किसी तरह बदला नहीं जा सकता तो फिर चिंता करने से और बिगड़ती है। उनके दर्शनशास्त्र में एक जटिल तर्क-वितर्क की श्रृंखला की जो पराकाष्ठा जैसी लगती है, उस सन्दर्भ के बाहर शान्तिदेव का यह समाधान शायद काफी सरल लगे। लेकिन इसकी सुंदरता इसकी सरलता में ही छिपी हुई है। कोई इस सामान्य ज्ञान के विरुद्ध तर्क नहीं कर सकता।

[20]

जहाँ तक दु:ख के वास्तविक प्रयोजन होने की सम्भावना का प्रश्न है, हम उस पर यहाँ विचार नहीं करेंगे। लेकिन जिस हद तक दु:ख का अनुभव हमें यह स्मरण कराता है कि दुख में दूसरे भी क्या सहन करते हैं, वह करुणा के अभ्यास एवं दूसरों को कष्ट नहीं देने के लिए शक्तिशाली आदेश देने का कार्य करता है। जिस हद तक दु:ख हमारे अंदर सहानुभूति को जगाता है एवं हमें दूसरों से जोड़ता है, यह करुणा एवं स्नेह का आधार बनता है । यहां मुझे एक महान तिब्बती विद्वान एवं बौद्ध धर्म के साधक के उदाहरण की याद आती है । तिब्बत पर कब्ज़ा होने के बाद उन्होंने बीस वर्ष से ज्यादा समय कारागार में बिताये एवं उन्हें भयंकर यन्त्रणा का सामना करना पड़ा । इस दौरान उनके वे छात्र जो तिब्बत से निकलने में सफल हो सके, मुझे अकसर बताते थे कि उस विद्वान साधक की चिट्ठियां, जो चोरी छिपे जेल से बाहर लायी गयी थीं, उनमें करुणा एवं मैत्री के ऐसे बड़े उपदेश थे जो इन छात्रों को पहले कभी देखने को नहीं मिली थीं। दुर्भाग्यशाली घटनाएँ जिनमें क्रोध एवं निराशा का स्रोत बनने की क्षमता है, उनमें आध्यात्मिक विकास का स्रोत बनने की भी उतनी ही क्षमता है। ऐसा होता है या नहीं यह हमारी प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है ।

[21]

मनन योग्य प्रश्न

१. कृपया टालने योग्य और अपरिहार्य पीड़ा के बीच भेद की व्याख्या करें।

२. कृपया कर्म की अवधारणा का वर्णन करें।

३. पीड़ा के प्रति हमारे मूल दृष्टिकोण पर लेखक का विचार क्या है?

४. अगर आप सोच सकते हैं तो कृपया पीड़ा के वास्तविक उद्देश्य पर अपने विचार साझा करें।

अध्याय १० - विवेक की आवश्यकता

नैतिकता एवं आध्यात्मिक विकास के सर्वेक्षण में हमने अनुशासन की आवश्यकता के बारे में काफी कुछ कहा है। वर्तमान समय में एवं ऐसी सभ्यता में जहाँ लोग आत्म-संतुष्टि के लक्ष्य पर ही सम्पूर्ण ध्यान देते हैं, यह शायद सुनने में एक दकियानूसी बात लगे, शायद अस्वीकार्य भी। किन्तु मैं मानता हूँ कि अनुशासन को लेकर जो नकारात्मक दृष्टिकोण है, उसके पीछे लोगों की इस शब्द की गलत समझ है। लोग अनुशासन को ऐसे समझते हैं जिसे उन पर उनकी इच्छा के विरुद्ध थोपा गया है। इसलिए यह दुहराने के योग्य है कि जब हम नैतिक अनुशासन की बात करते हैं तो हमारा ध्येय ऐसे अभ्यास से है, जिसका अनुशीलन हम अपनी भलाई को भली-भांति समझकर स्वेच्छा से करते हैं। यह कोई अजीब धारणा नहीं है । हम अपने स्वास्थ्य के लिए अनुशासन के अभ्यास से नहीं हिचकते हैं । अपने चिकित्सक की सलाह पर हम ऐसे भोजन से परहेज करते हैं, जो हमारे लिए हानिकारक है, भले ही वह भोजन हमें कितना ही प्रिय क्यों न हो। हम ऐसा भोजन ग्रहण करते हैं, जो हमारे लिए लाभदायक है। यह सत्य है कि आरम्भ में स्वयं पर अनुशासन के लिए चाहे वह स्वेच्छा से ही अपनाया गया हो, कुछ कठिनाईयों का सामना और कुछ हद तक संघर्ष भी करना पड़ सकता है, लेकिन परिश्रमपूर्वक प्रयास एवं निरंतर अभ्यास से यह कठिनाई कम होती जाती है। यह कुछ हद तक नदी की धारा को बदलने जैसा है। पहले हम नहर खोदते हैं एवं किनारा बनाते हैं, फिर जब उसमें पानी छोड़ा जाता है तब यहाँ वहां थोड़ा बदलाव करना पड़ता है। लेकिन एक बार धारा स्थापित हो जाती है, तो पानी का प्रवाह उसी दिशा में होता है, जिस दिशा में हम चाहते हैं।

[1]

नैतिक अनुशासन अत्यावश्यक है, क्योंकि यही वह साधन है, जिसकी सहायता से हम स्वयं की खुशी के अधिकार एवं औरों के समान अधिकार के प्रतियोगी दावे के बीच एक संतुलन बरकरार रख सकते हैं । स्वाभाविक है कि ऐसे लोग हमेशा होंगे, जो अपनी ख़ुशी को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझते हैं तथा उनके लिए दूसरों के दुःख का कोई मतलब नहीं होता है, लेकिन ऐसा करना अदूरदर्शिता है। अगर पाठक मेरी ख़ुशी की परिभाषा को स्वीकार करते हैं तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दूसरों की क्षति करके किसी का वास्तव में लाभ नहीं हो सकता है । जो भी तात्कालिक लाभ दूसरों की हानि करके प्राप्त किया जाता है, वह निश्चय ही अल्पकालिक होता है। दूसरों की क्षति एवं उनकी शांति एवं खुशी के हनन से अंततोगत्वा हमें मानसिक पीड़ा होती है। क्योंकि हमारे आचरण का प्रभाव दोनों पर - हम पर एवं दूसरों पर - होता है, जब हममें अनुशासन का अभाव होता है, अन्ततः हमारे मन में पीड़ा उत्पन्न होती है एवं हम अपने ह्रदय में बेचैनी अनुभव करते हैं।

इसके विपरीत इसमें भले जो भी परिश्रम करना पड़े नकारात्मक विचारों एवं मनोभावनाओं की प्रतिक्रिया को अनुशासित करने से स्वार्थी व्यवहार की तुलना में अंततोगत्वा हमें कम समस्याएँ होंगी ।

[2]

फिर भी यह बात पुनः दुहराने योग्य है कि नैतिक अनुशासन का तात्पर्य सिर्फ संयम से कहीं ज्यादा है । इसमें सद्गुणों का विकास भी सम्मिलित है। मैत्री एवं करुणा, शान्ति, सहनशीलता, क्षमाशीलता इत्यादि अनिवार्य गुण हैं । जब ऐसे गुण हमारे जीवन में विद्यमान होते है, तो हम जो भी करते हैं वह पूरे मानव परिवार के हित का साधन बनता है। यहाँ तक हमारे दैनिक रोजगार में--चाहे वह बच्चों की देख भाल करने का हो, कारखाने में काम करने का हो, अथवा चिकित्सक, वकील, व्यवसायी, अथवा शिक्षक के रूप में समाज की सेवा करने का, हमारा कार्य सबके कल्याण में योगदान करता है। नैतिक अनुशासन ही वह तत्व है, जो उन गुणों को प्रखर कर हमारे जीवन को अर्थ एवं मूल्य देते हैं। इसीलिए स्पष्टतः यह एक ऐसी चीज है, जिसे हमें उत्साहपूर्वक एवं सोच समझकर अपनाना चाहिए।

[3]

इसके पहले कि हम यह देखें कि कैसे हम अपने इस आंतरिक अनुशासन को दूसरों के साथ आपसी व्यवहार के लिए प्रयोग करें, यह शायद उत्तम हो कि हम दूसरों को हानि नहीं पहुँचाने को परिभाषित करने के लिए आधार का अवलोकन करें। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह कहना अत्यन्त कठिन है कि कोई विशेष क्रिया या क्रिया का प्रकार स्वतः उचित है या अनुचित। नैतिक आचार का पालन हम सिर्फ इसलिए नहीं करते हैं, क्योंकि यह अपने आप में सही है। हम ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि जैसे मैं सुखी एवं दुःख से दूर रहना चाहता हूँ , वैसे ही सभी अन्य लोग भी। इस कारण से एक अर्थपूर्ण नैतिक प्रणाली की कल्पना करना कठिन है , जो हमारे सुख एवं दुःख के अनुभव से पृथक् है ।

[4]

अवश्य ही अगर हम दर्शन पर आधारित ढेर सारे कठिन प्रश्न करना चाहें तो फिर नैतिकता पर व्याख्यान करना अत्यन्त जटिल हो सकता है। फिर भी, यद्यपि यह सत्य है कि नैतिक व्यव्हार को हम केवल एक तर्क के अभ्यास के रूप अथवा केवल नियमों के पालन तक सीमित नहीं कर सकते हैं, हम इसे चाहे जैसे भी देखें अंततः हम वापस सुख दुःख के मूलभूत प्रश्न पर पहुँच जाते हैं। सुख अच्छा क्यों है, एवं दुःख बुरा क्यों है? शायद इसका कोई निर्णायक उत्तर नहीं है। लेकिन हम देख सकते हैं कि हमारे स्वभाव के अनुसार हम सुख को दुःख की तुलना में अच्छा मानते हैं, वैसे ही जैसे श्रेष्ठ की अपेक्षा श्रेष्ठतर को चाहते

हैं। बस, हम सुख की कामना करते हैं एवं दुःख नहीं चाहते हैं। अगर हम कुछ और गहराई में जाकर प्रश्न करें कि ऐसा क्यों है तो निश्चय ही उत्तर कुछ ऐसा होगा, "यह ऐसे ही होता है"। ईश्वरवादी लोग बोलेंगे कि "ईश्वर ने हमें ऐसे ही बनाया है।"

[5]

जहाँ तक किसी कार्य के नैतिक स्वभाव का प्रश्न है, हमने देखा है कि यह बहुत सारे तथ्यों पर निर्भर करता है। समय और परिस्थितियों का इस पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। लेकिन फिर उस व्यक्ति की स्वतंत्रता या उसका अभाव भी इसमें एक तथ्य है। एक अपराध तब ज्यादा गंभीर समझा जाता है जब अपराधी पूरी स्वतंत्रता के साथ यह कर्म करता है बनिस्बत उस परिस्थिति में जब किसी को अपराध करने के लिए उसकी मर्जी के खिलाफ बाध्य किया गया हो। ऐसे ही बार बार अनुचित कार्य में लिप्त होना पश्चाताप की भावना का अभाव दर्शाता है, जो इकलौते अनुचित व्यवहार से ज्यादा गंभीर माना जाता है। लेकिन हमें कार्य के स्वभाव के साथ इसके पीछे की मंशा को भी समझना चाहिए। हालांकि सर्वोपरि प्रश्न कार्य के समय व्यक्ति की आध्यात्मिक स्थिति अर्थात उसके ह्रदय एवं चित्त (कुन लॉन्ग) की सम्पूर्ण स्थिति का है। क्योंकि साधारणतः यही वह क्षेत्र है, जिस पर हमारा सबसे ज्यादा नियन्त्रण है एवं जो हमारे कार्य के नैतिक स्वभाव का निर्णय करने में सबसे प्रमुख तत्व है। जैसा कि हमने पहले देखा है, जब हमारी प्रेरणा स्वार्थ से, द्वेष से, लोभ से, धोखा देने की इच्छा से दूषित होती है, भले ही हमारा व्यवहार देखने में उत्तम लगे, अंततः उसका परिणाम स्वयं एवं औरों के लिए हानिकारक ही होता है।

[6]

फिर नैतिकता के द्वन्द्व का सामना करते हुए अहिंसा के सिद्धांतों का हम कैसे पालन कर सकते हैं? यहीं पर हमारी तर्क करने की एवं कल्पना करने की शक्ति काम आती है। मैंने इन दोनों को सबसे बहुमूल्य संसाधन के रूप में वर्णन किया है एवं सुझाव दिया है कि यही योग्यता हमें पशुओं से विशिष्ट करती हैं। हमने देखा है कि कैसे क्लेशकारी भावनाएँ उसका विनाश करती हैं। हमने दुःख से सामना करने में उसकी उपयोगिता भी देखी है। जहाँ तक नैतिक अनुशीलन का प्रश्न है, यही गुण हमें अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक के लाभ के बीच अंतर देखने में मदद करते हैं एवं हमारे सामने प्रस्तुत विकल्पों में नैतिकता के परिमाण की जांच करने की शक्ति देते हैं एवं अपने व्यवहार के सम्भावित परिणाम को आंकने की क्षमता देते हैं ताकि हम निम्न कोटि के लक्ष्य को छोड़ उत्तम कोटि के लक्ष्य तक पहुँच सकें। द्वन्द्व की स्थिति में सर्व प्रथम हमें उस परिस्थिति की विशिष्टता पर बौद्ध दर्शन के "प्रज्ञा उपाय एवं समन्वय" के प्रकाश में विचार करना चाहिए। "उपाय" को हम उन प्रयासों की दृष्टि से समझना चाहिए जिससे यह सुनिश्चित हो जाये कि हमारा कार्य करुणा से प्रेरित है। "प्रज्ञा" का अर्थ विश्लेषण करने की क्षमता से है, जिससे हम नाना प्रकार के

तत्वों की प्रतिक्रिया में किसी भी परिस्थिति में "किसी का अहित नहीं करने" के आदर्श का पालन करते हैं। हम इसे विवेकपूर्ण क्षमता कह सकते हैं ।

[7]

इस क्षमता के उपयोग यह उस स्थिति में और भी महत्वपूर्ण है जब किसी भी धार्मिक विचार का आदर नहीं होता हो का मतलब होता है लगातार अपने दृष्टिकोण का निरीक्षण करते रहना एवं स्वयं से पूछते रहना कि हमारा नजरिया संकीर्ण है या उदार। यह क्या हमने किसी परिस्थति के सारे पहलुओं पर विचार किया या हम कुछ खास मुद्दों तक ही सीमित हैं? क्या हमारी सोच दीर्घकालिक है या सिर्फ तात्कालिक है? क्या हमारी मंशा, जब सभी प्राणियों के सन्दर्भ में देखा जाय, वास्तव में करुणामय है? क्या हम वर्तमान स्थिति को स्पष्ट रूप से देख रहे हैं अथवा नहीं? या हमारी करुणा सिर्फ हमारे परिवार, हमारे मित्र एवं उन लोगों तक ही सीमित है, जिनसे हमारे अच्छे सम्बन्ध हैं? अपने विचारों एवं भावनाओं के वास्तविक स्वभाव को ढूंढने के लिए हमें परिश्रम से मनन चिंतन करना चाहिए।

[8]

अवश्य ही विवेकपूर्ण विश्लेषण के लिए पर्याप्त समय देना हमेशा सम्भव नहीं होगा। कभी कभी हमें तत्काल कार्य करने होते हैं। इसी कारण से हमारा आध्यात्मिक विकास बहुत महत्वपूर्ण है, जिससे हम सुनिश्चित कर सकें कि हमारा आचरण नैतिकपूर्ण हो। हमारा आचरण जितना ही सहज होगा, उतना ही हमारी आदतें एवं प्रवृत्तियां व्यक्त होतीं । अगर हमारी प्रवृत्तियाँ अकुशल होंगी, तो हमारे कार्य निश्चय ही विनाशकारी होंगे। इसके साथ ही मेरी धारणा में यह उपयोगी होगा यदि हमारे पास कुछ मूलभूत नैतिक नियमों का संग्रह हो, जो हमारी दिनचर्या में हमारा मार्गदर्शन करे। इससे हमें अच्छी आदतों को बनाने में सहायता मिलेगी, यद्यपि मैं यहाँ यह जोड़ना चाहूँगा कि ऐसे नियमों को अपनाने के लिए हमें उन्हें कानूनी व्यवस्था के रूप में कम सोचना चाहिए और दूसरों के हित को ह्रदय में एवं मन में सर्वोपरि रखने के लिए याद दिलाने वाले के रूप में ज्यादा।

[9]

जहाँ तक इन नियमों के विषय का प्रश्न है, यह संदेहास्पद है कि न केवल विश्व के महान धर्मों के, अपितु अधिकांश मानवतावादी दार्शनिक परम्परा के द्वारा निर्दिष्ट मूलभूत नैतिक आदेशों के पालन के बिना हम ज्यादा अच्छा कर सकेंगे। दार्शनिक व्यवस्था मत भिन्नता के बावजूद, मेरी धारणा में उन धर्मों में सर्वसम्मति अकाट्य है। सभी धर्म हत्या, चोरी, झूठ बोलने एवं यौन सम्बन्धी दुष्कर्म को नकारात्मक मानते हैं। इसके अलावा अभिप्रेरक तत्वों की दृष्टि से सभी धर्म द्वेष, अभिमान, व्यापात अर्थात दूसरों को अहित करने की भावना,

लालच, ईर्ष्या, लोभ, लिप्सा, हानिकारक विचारधारा (जैसे जातिवाद) इत्यादि को प्रहेय मानते हैं।

[10]

कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि आज जब गर्भ निरोध के साधन इतने आसान एवं प्रभावी हैं, यौन सम्बन्धी दुष्कर्म का विरोध क्या वास्तव में आवश्यक है, लेकिन, मनुष्य होने के नाते हम स्वाभाविक रूप से भौतिक वस्तुओं की ओर आकर्षित होते हैं, चाहे वह आँखों के माध्यम से हो जब हम रूप पर मोहित होते हैं, कान के माध्यम से हो, जब हम सुरीली ध्वनि की ओर आकर्षित होते हैं अथवा कोई भी अन्य इंद्रियों के कारण हो। उनमें से प्रत्येक विषय हमारे लिए कष्ट का स्रोत बनने की क्षमता रखते हैं। लेकिन यौन आकर्षण में पांचों इन्द्रियां सम्मिलित हैं। इसके फलस्वरूप यौन सम्बन्धी आकर्षण में प्रबल तृष्णा रहती है। इसमें विराट समस्या पैदा करने की क्षमता रहती है। मेरे विचार में यही कारण है कि सभी प्रमुख धर्मों ने यौन सम्बन्धी दुष्कर्म के विरोध में नैतिक उपदेश दिए हैं। इसलिए, कम से कम बौद्ध परम्परा में हमें यौन की कामना से ग्रस्त होने की प्रवृत्ति के बारे में याद दिलाया जाता है। यह तृष्णा शीघ्र ही उस बिंदु पर पहुँच सकती है, जहाँ व्यक्ति के पास उचित कार्य के लिए कोई अवसर नहीं बचता है। इस सन्दर्भ में उदाहरण के लिए दाम्पत्य सम्बन्ध में विश्वासघात को लीजिये। कुशल नैतिक आचरण का अर्थ है कि हम अपने कार्यों के परिणाम की चिंता स्वयं के अलावा दूसरों पर भी करते हैं, अतः दूसरों की भावनाओं की भी चिंता करनी होती है। हमारे ऐसे आचारण से हमारे पति या पत्नी को पारस्परिक विश्वास के टूटने से दुःख तो पहुँचता ही है,परिवार में उत्पन्न अशान्ति के कारण बच्चों पर दीर्घकालिक बुरा असर हो सकता है। यह सभी मानने लगे हैं कि परिवार के टूटने से या अस्वस्थ दाम्पत्य संबंधों से बच्चे ही मुख्य रूप से कष्ट झेलते हैं। हमारे दृष्टिकोण से ऐसे व्यक्ति, जो इस प्रकार की गलती करते हैं , हमें यह भी स्वीकारना होगा कि इसके अपनी ही नजरों में क्रमशः अपना सम्मान खो देने के नकारात्मक परिणाम की सम्भावना है। अंततः दाम्पत्य सम्बन्ध में विश्वासघात के परिणाम के रूप में अन्य प्रकार की बड़ी नकारात्मक घटनाएँ भी हो सकती हैं । झूठ बोलना एवं धोखा देना शायद इसमें सबसे छोटी हो। अनचाहा गर्भ हताश होने वाले माता पिता के लिये गर्भपात कराने का सीधा कारण हो सकता है।

[11]

जब हम ऐसा सोचते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुचित सम्बन्ध से क्षणिक सुख की तुलना में स्वयं एवं दूसरों पर होने वाले विनाशकारी प्रभाव काफी ज्यादा भारी हैं। इसलिए यौन सम्बन्धी दुराचार के अवरोधक नियमों को स्वतंत्रता का हनन समझने के बजाय हमें उन्हें सामान्य ज्ञान समझना चाहिए, जो यह जताते हैं कि ऐसे कार्य का स्वयं एवं दूसरों के भविष्य पर सीधा प्रभाव होता है।

[12]

क्या इसका अर्थ यह है कि नियमों का पालन करना विवेकपूर्ण समझदारी से श्रेष्ठ है? नहीं। नैतिक आचरण दूसरों का अहित नहीं करने के सिद्धांत के प्रयोग पर निर्भर करता है। लेकिन निश्चय ही ऐसी परिस्थितियां होंगी, जब कोई भी प्रयास किसी न किसी नियम को भंग करता दिखेगा। ऐसी स्थिति में हमें अपनी बुद्धिमत्ता का प्रयोग कर ऐसा मार्ग चुनना होगा, जो दीर्घकाल में सबसे कम हानिकारक हो। उदाहरण के लिए ऐसी घटना के विषय में सोचिये जब आप देखते हैं कि कोई व्यक्ति हथियारों से लैस लोगों के झुण्ड से बचने के लिए भाग रहा है और झुण्ड के लोग स्पष्टतः भाग रहे व्यक्ति का नुकसान करना चाहते हैं। हम देखते हैं कि वह व्यक्ति एक घर के अंदर घुस गया है । कुछ क्षण के बाद पीछा करने वालों में से एक हमारे पास आता है और पूछता है कि वह व्यक्ति किस दिशा में गया।

एक तरफ हम झूठ बोलकर प्रश्न कर्ता का विश्वास नहीं तोड़ना चाहते हैं। दूसरी तरफ अगर हम सच बोलें तो हमें पता है कि हम एक साथी मनुष्य की हत्या या घायल होने में शायद योगदान कर देंगे। हम जो भी निर्णय लें, वह अनुकूल कार्यवाही नकारात्मक कर्म लगेगी। ऐसी स्थिति में, क्योंकि हम निश्चित हैं कि ऐसा कर हम किसी को बचाने का उच्चतर कर्म कर रहे हैं, शायद यह कहना सही होगा कि "मैंने उसे नहीं देखा" अथवा गोल मटोल उत्तर देना कि "मुझे लगता है कि वह उलटी दिशा में गया है" । हमें स्थिति के हर पहलू पर विचार करते हुए एवं झूठ बोलने एवं सच बोलने के लाभ की तुलना कर ऐसा कार्य करना होगा, जो हमें सब कुछ मिला कर सबसे कम हानिकारक लगता हो। अन्य शब्दों में किसी कार्य की नैतिकता का आकलन समय, स्थल एवं परिस्थिति के सन्दर्भ में किया जाता है एवं सब के वर्तमान एवं भविष्य के सम्पूर्ण हित का ध्यान करके होता है। इसका अर्थ यह है कि जो कार्य एक परिस्थिति में नैतिक है वही दूसरी परिस्थिति में अनैतिक हो सकता है।

[13]

यहाँ प्रश्न उठता है कि हम क्या कर सकते हैं जब दूसरों के आचारण का प्रश्न आता है? हम क्या कर सकते हैं, जब स्पष्ट रूप से उनके कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें हम गलत समझते हैं? प्रथमतः हमें याद रखना चाहिए कि जब तक हमें अंदरएवं बाहर की सम्पूर्ण परिस्थितियों का विस्तृत विवरण ज्ञात नहीं होता है, तब तक परिस्थिति विशेष के बारे में हमें स्पष्टता नहीं होगी, जिससे हम दूसरों के कार्य के नैतिक भाव का निश्चय पूर्वक मूल्यांकन कर सकें। अवश्य ही ऐसे विरले उदाहरण होंगे, जब दूसरों के व्यवहार का नकारात्मक स्वभाव स्वतः स्पष्ट होगा। किन्तु अधिकतर ऐसा नहीं होता है। इसलिए यह अत्यधिक उपयोगी है कि हम अपनी स्वयं की एक कमजोरी के प्रति सचेत रहें बजाय किसी और की एक हजार कमजोरियों को जानने के । क्योंकि अपने चरित्र की दुर्बलता को केवल हम ही दूर करने में सक्षम होते हैं।

[14]

फिर भी यह याद रखते हुए कि एक व्यक्ति एवं उसके व्यवहार में एक महत्वपूर्ण फर्क है, ऐसे अवसर आ सकते हैं , जब हमें कार्रवाई करने की आवश्यकता होती है। रोजमर्रा की बातों में यह सामान्य एवं उचित है कि हम कुछ हद तक अपने मित्रों एवं जान पहचान के लोगों के लिए समझौता करें एवं उनकी इच्छा का आदर करें। ऐसा करने को अच्छा माना जाता है। लेकिन इनमें जब हम ऐसे लोगों से मिलते हैं जो साफ साफ दुष्कर्म में लिप्त रहते हैं, सिर्फ अपने स्वार्थ के प्रयास में दूसरों के हित की अवहेलना करते हैं। हमें अपना मार्ग खो बैठने का संकट होता है। इसके परिणाम स्वरूप हमारी दूसरों की सहायता करने की क्षमता खतरे में पड़ जाती है। एक तिब्बती कहावत है कि जब हम सोने के पहाड़ पर लेटते हैं तो थोड़ा सोना घिस कर हम पर लग जाता है और वही होता है तब भी, जब हम मिट्टी के पहाड़ पर लेटते हैं। ऐसे लोगों से दूर रहना उचित है, लेकिन सावधानी बरतनी चाहिए कि हम उन्हें पूर्णतया त्याग न दें। वास्तव में ऐसे भी अवसर आते हैं जब उन्हें गलत हरकत करने से रोकना अनिवार्य है--अवश्य ही यह होना जरूरी है कि ऐसा करने के पीछे हमारी मंसा पवित्र हो एवम् हमारे तरीकों से कोई हानि नहीं हो। यहाँ पुनः करुणा एवं विवेक मूल तत्व हैं।

[15]

यही सच्चाई है उस द्वन्द्व को लेकर जिसका सामना हम समाज के स्तर पर करते हैं, विशेष करके वे कठिन एवं चुनौती वाले प्रश्न जो आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकी ने हमारे सामने प्रस्तुत किये हैं। उदाहरण के लिए चिकित्सा के क्षेत्र में अब उन मामलों में भी जीवन की अवधि बढ़ाना संभव हो गया है जिसकी कुछ वर्ष पहले आशा नहीं की जा सकती थी। अवश्य ही यह बड़े आनंद का स्रोत हो सकता है। लेकिन अक्सर सेवा शुश्रूषा की सीमा को लेकर एक बहुत ही जटिल एवं नाजुक सवाल खड़ा होता है। मेरी धारणा में इस विषय पर कोई एक सामान्य नियम नहीं हो सकता है। बल्कि इसके लिए करुणा एवं तर्क को ध्यान में रख कर शायद हमें बहुत सारे वैकल्पिक विचारों की समीक्षा करने की आवश्यकता हो। जब किसी रोगी के लिए एक कठिन निर्णय लेना जरूरी हो जाता है, तब हमें बहुत सारे विभिन्न मुद्दों पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। ये अवश्य ही हर मामले में भिन्न होंगे। उदाहरण के लिए, अगर हम किसी ऐसे व्यक्ति के जीवन की अवधि बढ़ाना चाहें, जो शरीर से बहुत बीमार हो, लेकिन मानसिक रूप से स्वस्थ है, हम उसे ऐसे सोचने एवं महसूस करने का अवसर दें, जो सिर्फ एक मनुष्य कर सकता है। दूसरी तरफ, ऐसा करने में हमें इसका भी ध्यान रखना होगा कि उसे जीवित रखने हेतु हमारे अतिशय प्रयासों से क्या उन्हें अत्यधिक शारीरिक एवं मानसिक कष्ट होगा लेकिन यह स्वयं में बहुत बड़ी बात नहीं है। मेरे जैसे व्यक्ति के लिए जो चेतना की मरणोपरान्त निरन्तरता में विश्वास करता है, मेरा

विचार है कि यह श्रेष्ठतर है कि इस शरीर में कष्ट हो। हम दूसरों की सेवा का कम से कम लाभ उठाते हैं। अगर हम मृत्यु चुनें तो हो सकता है कि मरने के बाद किसी और रूप में हमें और अधिक कष्ट भुगतना हो।

[16]

अगर रोगी होश में नहीं है और इस कारण से निर्णय लेने में हिस्सा नहीं ले सकता है तो फिर एक और समस्या खड़ी होती है। तब, अच्छी बात यह होगी कि इस पर परिवार के सदस्यों के विचारों को भी लिया जाय जिन पर रोगी की दीर्घकालीन सेवा का बड़ा कठिन भार है। उदाहरण के लिए ऐसा भी संभव है कि एक व्यक्ति को जीवित रखने के लिए कुछ विशेष धनराशि को हम ऐसी योजनाओं से अलग रखते हैं, जिनसे कई लोगों का भला हो सकता है। अगर कोई सामान्य सिद्धांत है तो मेरे विचार में यह है कि हम सिर्फ इतना पहचानें कि जीवन अत्यन्त बहुमूल्य है एवं हम यह प्रयास करें कि जब समय आता है तो मृत्यु शय्या पर लेटा हुआ व्यक्ति यथासंभव शांति एवं चैन से विदा ले।

[17]

जेनेटिक्स एवं बायोटेक्नोलॉजी के क्षेत्र में अहित नहीं करने का सिद्धांत विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि इसमें बहुत से लोगों के जीवन का प्रश्न है। जब अनुसन्धान के पीछे मन्सा सिर्फ आर्थिक लाभ अथवा प्रतिष्ठा की हो या अनुसन्धान सिर्फ अनुसन्धान के लिए ही हो तब यह प्रश्न खड़ा होता है कि यह किस दिशा में ले जाएगी। मैं खास कर उन तकनीकों के विकास के बारे में सोच रहा हूँ, जिनसे हम लिंग या यहाँ तक कि बाल एवं आँख का रंग जैसे शारीरिक गुण को बदल सकते हैं, जिनका उद्देश्य व्यावसायिक रूप से माता पिता के पूर्वाग्रहों का गलत लाभ उठाना है। वास्तव में मैं यह कहना चाहूंगा कि स्पष्ट रूप से हर जेनेटिक प्रयोग का विरोध करना कठिन है। यह काफी सूक्ष्म मामला है जो लोग इसमें लगे हुए हैं वे सावधानीपूर्वक एवं अत्यधिक विनम्रता के साथ आगे बढ़ें। उन्हें विशेष करके इसके दुरुपयोग की सम्भावना का ज्ञान होना चाहिए। यह महत्वपूर्ण है कि इस क्षेत्र में कार्यरत लोग अपने कार्यों के संभावित परिणामों पर ध्यान दें एवं सबसे महत्वपूर्ण यह है कि वे सुनिश्चित करें कि उनकी भावना वास्तव में करुणात्मक है। क्योंकि अगर ऐसे कार्य के पीछे सामान्य सिद्धांत केवल यही हो कि जिन प्राणियों को व्यर्थ समझा जाता है, उनका वैध रूप से उन प्राणियों के लिए इस्तेमाल हो सके जिन्हें श्रेष्ठ समझा जाता हो तो फिर हमें पहले वर्ग के लोगों को दूसरे वर्ग द्वारा पराधीन बनाने से रोकने के लिए कोई उपाय नहीं होगा। फिर भी मात्र उपयोगिता के आधार पर एक व्यक्ति के अधिकार को छीनना निश्चय ही कभी न्यायसंगत नहीं हो सकता है। यह अत्यन्त विनाशक होगा एवं इसमें लगातार और भी पतन होने का संकट है।

[18]

हाल में मैंने बीबीसी टेलीविजन पर प्राणियों की प्रतिरूपी नकल बनाने पर एक वृतचित्र देखा था । कम्प्यूटर द्वारा बनाई गई तस्वीरों की मदद से उस फिल्म ने एक ऐसे प्राणी पर वैज्ञानिकों को कार्य करते हुए दिखाया था, जो देखने में अर्द्ध मानव जैसा लग रहा था, जिसकी आँखें बड़ी थीं एवं कई मानव अंग थे एवं वह पिंजरे में पड़ा हुआ था। अवश्य ही अभी वह सिर्फ एक कल्पना है, लेकिन उन्होंने बताया कि भविष्य में ऐसे जंतुओं का निर्माण करना सम्भव होगा। फिर उन्हें पैदा किया जा सकेगा ताकि उनके अंगों एवं शरीर के अन्य हिस्सों को मनुष्यों की चिकित्सा में अतिरिक्त पुर्जों की तरह इस्तेमाल किया जा सके। मैं अत्यन्त चकित हो गया था। कितनी भयंकर बात है। निश्चय ही यह वैज्ञानिक अनुसन्धान को अति की सीमा पर ले जाने वाली बात है? यह विचार मेरे लिए भयंकर है कि एक दिन हम ऐसे प्राणियों को वास्तव में पैदा करें, जो विशेषरूप से इस प्रयोजन के लिए हैं । मानव भ्रूण पर प्रयोगशाला में प्रयोग करने के विचार पर मुझे ऐसा ही लगा था।

[19]

इसके साथ ही यह सोचना भी कठिन प्रतीत होता है कि ऐसी घटनाओं को कैसे रोका जा सकता है, अगर व्यक्ति अपने स्वयं के आचरण पर अनुशासन नहीं रखे। अवश्य ही हम नये कानून बना सकते हैं, अवश्य ही हम अंतर्राष्ट्रीय आचार नियम स्थापित कर सकते हैं निश्चिय ही हमें दोनों की आवश्यकता है। लेकिन अगर व्यक्तिगत रूप से वैज्ञानिकों को समझ नहीं है कि वह जो कर रहें हैं वह भयानक, विनाशकारी, एवं नकारात्मक की चरमसीमा है, तो ऐसे गलत कार्यों के रूकने की आशा नहीं है।

[20]

फिर जीवित प्राणियों की चीर फाड़ के बारे में हम क्या कह सकते हैं, जहाँ नियमित रूप से वैज्ञानिक ज्ञान के लिए उनकी हत्या के पहले उन्हें अति कष्ट दिया जाता है? यहाँ पर मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि एक बौद्ध होने के नाते मेरे लिए ऐसे कार्य उतने ही भयावह हैं। मैं इतनी ही आशा कर सकता हूँ कि कम्प्यूटर विज्ञान में प्रगति होने से जन्तुओं का प्रयोगशाला में कम से कम प्रयोग होगा। आधुनिक समाज में एक सकारात्मक विकास यह हुआ है कि समाज में मानव अधिकारों के आदर के साथ साथ पशुओं के हित के लिए भी चिंता बढ़ी है। उदाहरण के लिए जन्तुओं को कारखानों में पैदा करने को अधिक लोग अमानवीय समझने लगे हैं। ऐसा लगता है कि ज्यादा लोग निरामिष भोजन करने में रुचि ले रहे हैं और मांस खाना कम कर रहे हैं। मैं इसका स्वागत करता हूँ। मेरी आशा है कि भविष्य में इस विचार में समुद्र के सबसे छोटे जीवों के हितों को भी शामिल कर लिया जायेगा।

[21]

लेकिन, यहाँ मुझे शायद एक चेतावनी देनी चाहिए। मनुष्य एवं पशुओं के जीवन की रक्षा करने का अभियान उत्तम कार्य है। साथ ही यह आवश्यक है कि हम इस न्याय को स्थापित करने में इतने विभोर न हो जायें कि हम दूसरों के अधिकारों का हनन कर बैठें। हमें यह निश्चित करना चाहिए कि हम अपने आदर्शों का अनुसरण विवेकपूर्ण उपाय से कर रहे हैं।

[22]

अपनी विवेकपूर्ण बुद्धि का नैतिक क्षेत्र में प्रयोग करने का अर्थ है, अपने आचार एवं उसकी आधारभूत भावना दोनों का उत्तरदायित्व लेना। अगर हम अपनी भावना का उत्तरदायित्व नहीं लेते हैं, चाहे वह सकारात्मक हो या नकारात्मक, हानि की सम्भावना अधिक है। जैसा कि हमने देखा है कि नकारात्मक भावना अनैतिक व्यवहार का स्रोत है। हर कार्य का प्रभाव सिर्फ हमारे निकट के लोगों पर ही नहीं होता है, बल्कि हमारे सहकर्मियों, मित्रगण, समाज एवं अंततः पूरे विश्व पर होता है।

[23]

मनन योग्य प्रश्न

१. कृपया आत्म-अनुशासन और नैतिक अनुशासन के लेखक के दृष्टिकोण का वर्णन करें।

२. कृपया उन कारकों का वर्णन करें जो किसी क्रिया की नैतिक प्रकृति का निर्धारण करते हैं।

३. कृपया हमारे कार्यों के परिणामों के अल्पकालिक और दीर्घकालिक दृष्टिकोण का वर्णन करें।

४. कृपया तिब्बती शब्द कुन लांग का वर्णन करें।

५. यौन सम्बंधित गलती को रोकने के लिए हमें अतिरिक्त सतर्क रहने की आवश्यकता क्यों है?

६. दूसरों की हानि नहीं करने के सिद्धांत का आत्म-संयम के लिए कैसे उपयोग कर सकते हैं>

७. कृपया अपने जीवन में नैतिक दुविधाओं और उनके साथ निपटने की अपनी युक्ति की पहचान करें।

अध्याय ११ - वैश्विक उत्तरदायित्व

मेरी धारणा है कि हमारे हर कर्म का एक वैश्विक आयाम है। इस कारण से नैतिकता पूर्ण अनुशासन, सदाचार एवं विवेक, अर्थपूर्ण एवं सुखी जीवन के लिए महत्वपूर्ण है। अब हम इस विचार को विशाल मानव समुदाय के सन्दर्भ में देखते हैं।

[1]

प्राचीन काल में छोटे-छोटे समुदायों के लोग एवं परिवार कमोबेश एक दूसरे के सहारे के बिना रह सकते थे। अगर वे अपने पड़ोसी के हित के बारे में सोच सकते थे तो यह अच्छी बात थी । फिर भी बिना इस ख़याल के वे अच्छी तरह अपना जीवन यापन कर सकते थे। अब बिलकुल ऐसा नहीं है। आज की परिस्थिति कम से कम भौतिक रूप से काफी जटिल है एवं इतने स्पष्ट रूप से आपस में जुड़ी हुई है कि इसे एक दूसरे तरीके से देखने की आवश्यकता है। आधुनिक आर्थिक नीति इसका उदाहरण है। दुनिया के एक छोर पर सट्टे के व्यापार के डूबने का प्रभाव दुनिया के दूसरे छोर पर स्थित राष्ट्रों पर होता है। ऐसे ही हमारी तकनीकी प्रगति ऐसी है कि हमारे क्रिया कलाप का स्पष्ट रूप से पर्यावरण पर प्रभाव पड़ता है। एवं जनसंख्या इतनी बढ़ चुकी है कि हम दूसरों के हितों की और अवहेलना नहीं कर सकते हैं। वास्तव में हम अक्सर इन बातों को आपस में इतने जुड़े हूए पाते हैं कि अपने हित के लिए किए गए प्रयासों से दूसरों का भी हित होता है, भले ही वह हमारा स्पष्ट आशय नहीं था। उदाहरण के लिए जब दो परिवार एक ही जल के स्रोत का साझा करते हैं तो उसे दूषित नहीं होने देने का प्रयास दोनों के लिए लाभकारी होता है।

[2]

इन बातों का ध्यान रखते हूए मैं इस बात से निश्चित हूँ कि हमारे अंदर वैश्विक उत्तरदायित्व की भावना को जागरूक करना महत्त्वपूर्ण है। यह शायद उस तिब्बती शब्द वैश्विक(ची) चेतना (सेम) का शब्दशः अर्थ नहीं है जो मेरे मन में है । यद्यपि ची सेम में उत्तरदायित्व का भाव स्पष्ट न होकर निहित है, यह भाव अवश्य ही विद्यमान है। जब मैं यह कहता हूँ कि दूसरों के कल्याण की चिंता के आधार पर हम वैश्विक उत्तरदायित्व की भावना जागरूक कर सकते हैं और करना चाहिए तो मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि हर व्यक्ति पर विश्व के विभिन्न स्थानों पर हो रहे युद्ध एवं भुखमरी जैसी घटनाओं का सीधा उत्तरदायित्व है। यह सत्य है कि बौद्ध साधना में हम स्वयं को विश्व के सभी प्राणियों की सेवा करने के कर्तव्य का निरन्तर स्मरण कराते हैं। ऐसे ही ईश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर के प्रति समर्पित होने का अर्थ है उनके द्वारा सृजित सभी जीवों के हित के प्रति समर्पित होना। लेकिन स्पष्ट है कि कुछ समस्याएँ जैसे दस हजार मील दूर एक गाँव की निर्धनता को दूर करना एक व्यक्ति के सामर्थ्य से परे है। इसलिए इसमें स्वयं को दोषी ठहराने की बात नहीं है, बल्कि अपने दिल

और दिमाग को स्वार्थ से हटा कर परार्थ की ओर लगाने की बात है। वैश्वीय उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करने का अर्थ है कि हम अपने हर कार्य के परिणाम के वैश्विक आयाम एवं दूसरों के सुख एवं कष्ट से मुक्ति के समान अधिकार को समझें, जिसको जागृत करने के लिए ऐसी मानसिकता को विकसित करें जिससे जब हमें दूसरों की सहायता करने का अवसर मिलता है तो सिर्फ अपने संकीर्ण स्वार्थों की अपेक्षा उसे प्राथमिकता दें। लेकिन उसके साथ अवश्य ही कुछ समस्याएँ होंगी, जो हमारी हल करने की क्षमता से बाहर हैं, उन्हें प्रकृति का स्वरुप मान कर हम स्वीकार कर लें एवं हम जो कर सकते हैं वह करें।

[3]

वैश्वीय उत्तरदायित्व की भावना जागरूक करने का एक महत्वपूर्ण लाभ है कि यह हमें सिर्फ अपने निकटस्थ लोगों के लिए ही नहीं, बल्कि सब के प्रति संवेदनशील होने में सहायता करता है। हम मानव परिवार की सेवा की आवश्यकता को देखने लगते हैं, खास कर के उन सदस्यों के लिए, जो सबसे ज्यादा कष्ट में हैं। हम बन्धु मनुष्यों के बीच भेदभाव फैलाने वाली हरकतों से दूर रहने के महत्त्व को समझने लगते हैं एवं हम संतोष की विराट महत्ता को समझने लगते हैं।

[4]

जब हम दूसरों के हित को नज़रअंदाज़ करते हैं एवं अपने कार्यों के वैश्विक आयाम को अनदेखा करते हैं, निश्चय ही हम अपने हित को दूसरों के हित से अलग समझने लगेंगे। हम मानव परिवार की मूलभूत एकात्मकता की उपेक्षा करेंगे। अवश्य उन अनेक तथ्यों को गिनना आसान है जो इस एकात्मकता की भावना के विरोध में कार्य करते हैं। इनमें सम्मिलित है धार्मिक आस्था, भाषा, रीति-रिवाज, संस्कृति आदि की विभिन्नता। जब हम इन गौण विभिन्नताओं पर बहुत ज्यादा ध्यान देते हैं और उनके आधार पर अगर छोटे भी कठोर भेदभाव करते हैं तो हम स्वयं पर एवं दूसरों पर और अधिक कष्ट लाने से नहीं बच सकते हैं। ऐसा करना एक मूर्खता वाली बात है। हम मनुष्यों के पास पहले से ही पर्याप्त समस्याएँ हैं। हम सभी मृत्यु, बुढ़ापा एवं रोग का सामना करते हैं—अवश्यंभावी निराशा से बचने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। इन समस्याओं से बचना असंभव है। क्या इतना पर्याप्त नहीं है? फिर सिर्फ विभिन्न विचारधाराओं को लेकर या रंगभेद को लेकर अनावश्यक समस्याएँ खड़ी करने का क्या लाभ है?

[5]

इस यथार्थ को लेकर हम देखते हैं तो पाते हैं कि नैतिकता एवं आवश्यकता दोनों एक ही उत्तर चाहते हैं। दूसरों की जरूरतों एवं अधिकारों को अनदेखा करने की अपनी प्रवृति पर काबू करने के लिए हमें स्वयं को निरन्तर स्मरण कराना चाहिये, जो स्पष्ट भी है कि वस्तुतः

हम सभी समान हैं। मैं तिब्बत से हूँ । इस पुस्तक को पढ़ने वाले ज्यादातर लोग तिब्बती नहीं होंगे। अगर मैं हर पाठक से मिलूं एवं उन्हें ध्यान से देखूं तो मैं पाऊंगा कि उनमें से अधिकांश लोग बाह्य रूप से सचमुच मेरे से भिन्न होंगे। फिर अगर मैं उन भिन्नताओं पर ध्यान दूँ तो शायद मैं उन्हें बढ़ा चढ़ा कर कुछ गम्भीर बना लूँ। लेकिन इसके परिणाम में हम एक दूसरे से नजदीक नहीं बल्कि दूर हो जायेंगे। दूसरी तरफ अगर मैं हर व्यक्ति को अपने समान देखूं, एक अपनी ही तरह के मनुष्य के रूप में, जिसके एक नाक, दो आँखें इत्यादि हैं, एवं रूप रंग की भिन्नता की उपेक्षा करूँ, तो फिर दूरी की भावना अपने आप समाप्त हो जाएगी। मुझे दिखेगा कि हम सभी एक ही हाड़-मांस के बने हैं एवं उससे भी ज्यादा यह कि बिलकुल मेरी ही तरह वे भी सुखी रहना चाहते हैं एवं दुःख से दूर रहना चाहते हैं। इस समझ के आधार पर मेरा उनके प्रति रवैया अच्छा होगा। एवं उनके हित की चिंता स्वतः उत्पन्न होगी।

[6]

फिर भी ऐसा लगता है कि यद्यपि ज्यादातर लोग अपने समूह में एकता की आवश्यकता को स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं, लेकिन उनकी प्रवृत्तियाँ बाकी मानवता के कल्याण की उपेक्षा करने वाली होती है। ऐसा करने से न तो हम सिर्फ परस्पर-निर्भरता के यथार्थ के सिद्धांत को अनदेखा करते हैं, बल्कि अपनी परिस्थिति की वास्तविकता को भी। अगर एक समूह अथवा एक जनजाति अथवा एक राष्ट्र के लिए अपनी सीमा में ही रहकर आत्मनिर्भर एवं स्वछन्द होकर पूर्णतया संतुष्ट एवं तृप्त रहना संभव होता तो शायद बाहर के लोगों के साथ भेदभाव करने को उचित ठहराने के पक्ष में तर्क दिया जा सकता था। लेकिन ऐसा है नहीं। वास्तव में आधुनिक विश्व ऐसा है कि एक विशेष समुदाय के हित की कल्पना सिर्फ उसकी अपनी सीमा में सीमित होकर नहीं की जा सकती है।

[7]

इसलिए संतोष की भावना का विकास शांतिपूर्ण अस्तित्व को बनाये रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। असंतोष से लालच बढ़ता है, जिसकी कभी भी पूर्ति नहीं की जा सकती है। यह सत्य है कि मनुष्य अगर ऐसे गुणों की कामना करे, जो स्वभाव से असीमित हैं जैसे सहनशीलता, तो फिर संतुष्ट रहने का प्रश्न नहीं उठता है। हम अपने सहनशील होने की योग्यता जितना अधिक बढ़ायेंगे, हम उतने ही सहनशील होंगे। आध्यात्मिक गुणों के सन्दर्भ में संतोष न आवश्यक है न इष्ट है। लेकिन हम जिसकी कामना करते हों अगर वह सीमित मात्र में ही उपलब्ध हो तो फिर संकट यह है कि उसे पा लेने के बाद भी हम संतुष्ट नहीं हो पाएंगे। संपत्ति की कामना के उदाहरण में अगर कोई व्यक्ति किसी प्रकार से एक पूरे राष्ट्र की संपत्ति पर कब्जा भी कर ले तो फिर इसकी निश्चित सम्भावना है कि वह और राष्ट्रों को हड़पने की ताक में जरूर लग जाएगा। जो ससीम है उसे लेकर परितृप्त होना

असंभव है। उसके बदले अगर हम सन्तुष्ट रहना सीख लें तो फिर हम कभी निराश या दिग्भ्रमित नहीं होंगे।

[8]

असंतुष्टि--जो निश्चय ही लालच का एक रूप है—ईर्ष्या एवं आक्रामक स्पर्धा का बीजारोपण करती है। यह अतिभौतिकतावादी संस्कृति को जन्म देती है। इसके परिणाम स्वरूप नकारात्मक वातावरण पैदा होता है । इससे नाना प्रकार की सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो समाज के हर सदस्य को कष्ट देती हैं । अगर ईर्ष्या एवं लालच के संग कोई और बुरा परिणाम नहीं होता तो फिर यह समस्या सिर्फ उसी समाज का सर दर्द होती । लेकिन ऐसा होता नहीं है। विशेष कर असंतोष ही हमारे पर्यावरण के विनाश की जड़ है, जिससे दूसरों का नुकसान हो रहा है। दूसरे कौन हैं? खास कर के निर्धन एवं कमजोर लोग ? अपने ही समुदाय में अमीर लोग कहीं और बस कर दूषित पर्यावरण से बच सकते हैं, लेकिन गरीबों के पास कोई चारा नहीं है।

[9]

ऐसे ही निर्धन राष्ट्रों के लोग जिनके पास सामना करने का साधन नहीं हैं वह अमीर राष्ट्रों की ज्यादती और अपनी पिछड़ी हुई तकनीक के कारण उत्पन्न दूषण की पीड़ा, दोनों सहते हैं। उनकी आने वाली पीढ़ियां भी दुःख झेलेंगी। अंततः हम स्वयं भी दुःख झेलेंगे। कैसे? हमें उसी दुनिया में निवास करना होता है, जिसका निर्माण हम खुद करते हैं। अगर हम अपने साथ दूसरों के सुखी रहने एवं दुःख से बचने के समान अधिकार के सम्मान हेतु अपने व्यवहार में परिवर्तन नहीं लाते हैं तो इसमें ज्यादा समय नहीं लगेगा जब हम अपने निर्णय के विपरीत फल को देखने लगेंगे। कल्पना कीजिए एक अरब और वाहनों के प्रदूषण की । इसका परिणाम हम सब पर होगा। इसलिए संतोष सिर्फ नैतिकता की बात नहीं है। अगर हम अपना कष्ट नहीं बढ़ाना चाहते हैं तो यह हमारी ही आवश्यकता की बात है।

[10]

यह एक कारण है कि क्यों मैं विश्वास करता हूँ कि सतत आर्थिक प्रगति की संस्कृति पर प्रश्न उठाने की आवश्यकता है। मेरी धारणा में यह संस्कृति असंतुष्टि पैदा करती है एवं इसके साथ आती हैं अनेक सामाजिक एवं पर्यावरण सम्बन्धी समस्याएँ । यह भी सत्य है कि जब हम जी जान लगाकर भौतिक विकास में भिड़ जाते हैं तो हम वृहत समुदाय पर इसके प्रभाव को अनदेखा कर जाते हैं। पुनः यह बात प्रथम विश्व एवं तृतीय विश्व, उत्तर एवं दक्षिण, विकसित एवं अविकसित, अमीर एवं गरीब राष्ट्रों के बीच अंतर मात्र की नहीं है, बल्कि यह अनैतिक और त्रुटिपूर्ण है। यह दोनों है। लेकिन एक प्रकार से यह गौर करने की बात है कि यह असमानता ही सबके कष्ट की जड़ है। उदाहरण के लिए अगर ऐसा होता कि

यूरोप विश्व के दस प्रतिशत होने के बजाय पूरा विश्व ही होता तो शायद सतत वृद्धि की आम धारणा न्याय संगत होती। लेकिन विश्व यूरोप से कहीं बहुत बड़ा है। सत्य यह है कि अन्य जगहों में भुखमरी है, एवं जहाँ इतना विराट असंतुलन होगा, वहां निश्चय ही सब पर बुरा परिणाम होगा, वह भले ही स्पष्ट नहीं दिखे। धनी लोग भी अपने दैनिक जीवन में निर्धनता का लक्षण महसूस करते हैं। इस सन्दर्भ में इस पर ध्यान दीजिये कि कैसे निगरानी वाले कैमरे या खिड़की पर लगी सलाखें वास्तव में हमारी शांति की भावना को थोड़ा कम करती हैं।

[11]

वैश्विक उत्तरदायित्व की भावना हमें ईमानदारी के सिद्धांत के प्रति प्रतिबद्धता की ओर भी अग्रसर करती है। इससे मेरा क्या तात्पर्य है? हम ईमानदारी एवं बेईमानी को प्रतीति और वास्तविकता के बीच के सम्बन्ध के रूप में देख सकते हैं। कई बार प्रतीति और वास्तविकता में तालमेल होता है, लेकिन प्रायः नहीं। परन्तु जब उनमें तालमेल होता है तो मेरी धारणा में वही ईमानदारी है। इस प्रकार से हम ईमानदार हैं, जब हमारा कार्य वास्तव में वही होता है जो दिखता है। जब हम कुछ और होने का ढोंग करते हैं, लेकिन वास्तव में कुछ और होते हैं तो औरों में इससे संदेह पैदा होता है, जिससे भय होता है। भय अवश्य ऐसी चीज है, जिससे हम सभी बचना चाहते हैं। इसके विपरीत, हम अपने पड़ोसियों के साथ संपर्क करते समय हम जो भी कहते हैं, सोचते हैं, करते हैं, अगर वह सब खुले दिल से एवं निश्छल होता है, तो लोगों को हमसे भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। यह व्यक्तिगत रूप से एवं सामाजिक रूप से भी सच है। और भी, जब हम हर आचरण में ईमानदारी का महत्त्व समझते हैं तो पाते हैं कि एक व्यक्ति की जरूरतों में एवं पूरे समाज की जरूरतों में अंततः कोई अन्तर नहीं है। उनकी संख्या में भले ही अंतर हो, लेकिन उनकी कामना एवं धोखा नहीं खाने के अधिकार में कोई फर्क नहीं होता है। इस प्रकार से जब हम ईमानदारी के प्रति समर्पित होते हैं तो हम पूरे समाज में गलतफहमी, सन्देह एवं भय कम करने में मदद करते हैं। इस प्रकार हमारी छोटी सी किन्तु महत्वपूर्ण पहल से हम एक सुखी विश्व के निर्माण की परिस्थिति को उत्पन्न करते हैं।

[12]

न्याय का प्रश्न हमेशा से वैश्विक उत्तरदायित्व एवं ईमानदारी के साथ घनिष्टता से जुड़ा हुआ है। न्याय का तात्पर्य है कि जब भी हम अन्याय देखें, तब हम कुछ करें। वास्तव में ऐसा नहीं कर पाना अनुचित होगा, यद्यपि उस दृष्टि से अनुचित नहीं कि वह हमें वास्तव में दुष्ट व्यक्ति सिद्ध करे। लेकिन अगर कुछ करने में हमारी हिचकिचाहट आत्मकेन्द्रित होने के कारण हो तो शायद वहाँ कोई समस्या है। अगर अन्याय के उत्तर में हम प्रश्न करें, "मेरा क्या होगा अगर मैं आवाज उठाऊँ? शायद लोग मुझे पसंद नहीं करेंगे," तो फिर यह शायद अनैतिक

हो, क्योंकि हम मौन रहने के बड़े परिणाम को नजरअंदाज कर रहे हैं। यह और भी अनुचित एवं व्यर्थ है, जब यहाँ औरों के सुखी रहने एवं दुःख से बचने के सन्दर्भ में होता है। यह तब भी सच रहता है, शायद ज्यादा ही, जब सरकार या प्रतिष्ठान के लोग कहते हैं, ''यह हमारा मामला है'' अथवा ''यह हमारी अंदरूनी समस्या है''। ऐसी परिस्थिति में हमारा आवाज उठाना न सिर्फ कर्तव्य है, बल्कि उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसा कर हम औरों का कल्याण भी कर सकते हैं ।

[13]

अवश्य ही यह आपत्ति की जा सकती है कि ऐसी ईमानदारी हमेशा सम्भव नहीं है एवं हमें ''व्यावहारिक'' होना चाहिए। हमारी परिस्थितियां शायद हमें अपने उत्तरदायित्व के अनुसार कार्य करने से रोकें। उदाहरण के लिए अगर हम अन्याय के विरोध में आवाज उठायें तो हमारे परिवार की क्षति हो सकती है। लेकिन जब हमें दैनिक जीवन की वास्तविकता का सामना करना पड़ता है, तब यह आवश्यक है कि हम अपना व्यापक दृष्टिकोण बनाये रखें। हम अपनी आवश्यकता का मूल्यांकन दूसरों के हित के सन्दर्भ में करें एवं विचार करें कि हमारे कार्य करने और न करने से उसका दूरगामी प्रभाव दूसरों पर क्या होगा। जो अपने प्रिय जनों के लिए भयभीत रहते हैं, उनकी आलोचना करना कठिन है। लेकिन वृहत समाज के कल्याण के लिए यदा कदा थोड़ा संकट मोल लेना जरूरी होता है।

[14]

सब की उत्तरदायित्व की भावना का अर्थ यह भी है कि व्यक्तिगत रूप में एवं व्यक्तियों के समाज के रूप में समाज के हर सदस्य का ख्याल करना हमारा कर्त्तव्य है। यह सत्य है, भले ही उनकी शारीरिक क्षमता एवं मानसिक स्थिति कुछ भी हो। बिलकुल हमारी तरह ऐसे व्यक्तियों को भी सुखी रहने का एवं दुःख से दूर रहने का अधिकार है। इसलिए हमें किसी भी हालत में ऐसी मानसकिता से बचना चाहिए जो दुख से अत्यन्त पीड़ित लोगों को बोझ समझ कर अवहेलना करती है। यही बात उन पर भी लागू होती है जो रोगग्रस्त हैं अथवा समाज द्वारा किनारे कर दिये गए हैं। उनका परित्याग करना उनके दुःख पर और दुःख लादने जैसा होगा। अगर हम स्वयं उस परिस्थिति में होते तो हम दूसरों की ओर सहायता के लिए देखते। इसलिए हमें सुनिश्चित करना चाहिए कि रोगी एवं कमजोर लोग कभी असहाय, त्यक्त अथवा असुरक्षित महसूस न करें। वास्तव में ऐसे लोगों के प्रति हम जो स्नेह प्रदर्शित करते हैं, मेरी धारणा में वही हमारे व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्तर के आध्यात्मिक स्वास्थ्य का परिमाण है।

[15]

मैं वैश्विक उत्तरदायित्व की इतनी ज्यादा बात करता हुआ शायद सुनने में अत्यन्त आदर्शवादी लगूँ। लेकिन यह विचार मैं अपनी पश्चिम की पहली 1973 वाली यात्रा से ही सार्वजनिक रूप से व्यक्त करता आया हूँ । उन दिनों बहुत लोग इस विचार को संशय की दृष्टि से देखते थे। इसी प्रकार से उन दिनों लोगों को विश्व शांति की कल्पना के बारे में उत्साहित करना उतना आसान नहीं था। लेकिन मैं आज यह देख कर उत्साहित हूँ कि अधिकाधिक लोगों की प्रतिक्रिया इन विचारों को ओर सकारात्मक है।

[16]

मुझे लगता है कि बीसवीं सदी के कालक्रम में मानवता ने ऐसी असाधारण घटनाओं को अनुभव किया है, जिनके कारण हम ज्यादा परिपक्व हुये हैं। पाँचवें एवं छठे दशक में, एवं कुछ स्थानों पर आज भी, बहुत से लोग सोचते थे कि अंततः कोई भी प्रतिद्वन्द्व युद्ध के द्वारा ही सुलझाना चाहिए। आज ऐसी सोच कुछ लोगों तक सीमित रह गयी है। जहाँ इस शताब्दी के शुरू में कई लोग सोचते थे कि समाज के अंदर प्रगति एवं विकास का प्रयास कठोर अनुशासन से संचालित होना चाहिए, वहां फासिज्म के ध्वस्त होने एवं उसके पश्चात् तथाकथित लोहे के परदे का गायब होने ने यह सिद्ध किया कि वह नितान्त व्यर्थ प्रयास था। इतिहास की यह सीख भी गौर फरमाने लायक है कि जबर्दस्ती से थोपा हुआ शासन अल्पकालिक ही होता है। इसके अतिरिक्त, (कुछ बौद्ध लोगों के बीच भी) यह सहमति कि विज्ञान एवं अध्यात्म असंगत हैं, कमजोर पड़ गयी है। अब जैसे वास्तविकता के स्वरूप के बारे में वैज्ञानिक जानकारी गम्भीर हो रही है । इस धारणा में बदलाव आया है। इस कारण से लोगों की उत्सुकता उसमें दिखने लगी है, जिसे मैं आतंरिक विश्व कहता हूँ। इससे मेरा तात्पर्य चित्त अथवा भावना अर्थात दिल और दिमाग, के स्वभाव एवं कार्य से है। विश्व में पर्यावरण के बारे में भी जानकारी बढ़ी है एवं अधिकाधिक लोग इस विचार को मान्यता देने लगे हैं कि न तो एक अकेला व्यक्ति या न ही पूरा राष्ट्र अपनी सारी समस्यायों को अपने आप सुलझा सकता है। वस्तुतः: हमें एक दूसरे की आवश्यकता है। मेरे लिए यह सभी प्रोत्साहक प्रगति हैं, जिनके परिणाम का निश्चय ही दीर्घ कालिक प्रभाव होगा। मेरा हौसला यह देखकर भी बढ़ा है कि इसका कार्यान्वयन जैसे भी हो इस विचार को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाने लगा है कि प्रतिद्वंद्व का सामंजस्य भावना के साथ अहिंसात्मक समाधान ढूंढने की आवश्यकता है। जैसा कि हमने देखा है कि मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिकता और सामान्य महत्वपूर्ण क्षेत्रों में विविधिता की स्वीकृति बढ़ रही है। जैसे उदाहरण के लिए धार्मिक मामलों में विविधिता की स्वीकृति । मेरा विश्वास है कि यह मानव परिवार की विविधता के संदर्भ में एक व्यापक दृष्टिकोण को दर्शाती है। इसके परिणाम स्वरुप व्यक्तियों एवं समुदायों पर विचारधारा, धर्म, प्रगति, विकास या आर्थिक नीति के नाम पर अत्यधिक दुःख पहुँचाने के बावजूद प्रताड़ित समुदाय के लिए आशा की नई किरण

उठी है। यद्यपि सच्ची शांति एवं सदभावना लाना निस्संदेह ही कठिन होगा, किन्तु यह असंभव नहीं है। हममें यह क्षमता है एवं इसकी नींव है - हम सभी में एक व्यक्ति के रूप में अन्य सभी के हित के लिए उत्तरदायित्व का भाव।

[17]

मनन योग्य प्रश्न

१. परम पावन दलाई लामा वैश्विक उत्तरदायित्व का वर्णन कैसे करते हैं? हमारे जीवन के इस पहलू को विकसित करना क्यों महत्वपूर्ण है?

२. संतुष्टि को विकसित करना क्यों महत्वपूर्ण है?

३. निरंतर विकास की मानसिकता का पीछा करने में समस्या क्या है?

४. लेखक व्यक्तिगत ईमानदारी की अवधारणा को कैसे समझाते हैं?

अध्याय १२ - निष्ठा के सोपान

दूसरों में उत्तरदायित्व की भावना बढ़ा कर हम एक ज्यादा दयालु एवं करुणाशील विश्व का निर्माण करने का आरम्भ कर सकते हैं, जिसके सपने हम सभी देखते हैं। पाठक मेरी वैश्विक उत्तरदायित्व की वकालत से सहमत हो भी सकते हैं या नहीं भी । लेकिन अगर यह सत्य है कि व्यापकतया परस्परआश्रित यथार्थ के स्वरुप के कारण हमारे स्वयं एवं दूसरों के बीच आदती भेदभाव करना अध्यारोपण--अर्थात वास्तविकता से ज्यादा मन गढ़न्त करके देखना--एवं इसके आधार पर यदि मेरा यह सुझाव उचित है कि हमारा उद्देश्य सबके प्रति करुणापूर्ण हो तो हम इस निष्कर्ष को अनदेखा नहीं कर सकते हैं कि करुणा--जिसमें नैतिक आचारण सन्निहित है--हमारे सभी कार्यों के ह्रदय में है चाहे वह व्यक्तिगत हों या सामाजिक हों। इससे आगे, यद्यपि अवश्य ही इसके विस्तार पर विवाद हो सकता है, मैं निश्चित हूँ कि वैश्विक उत्तरदायित्व का अर्थ है कि करुणा का स्थान राजनैतिक क्षेत्र में भी है।

यह इस विषय पर कुछ महत्वपूर्ण तथ्य बताती है कि हम कैसे अपना दैनिक जीवन यापन करें, अगर हम ऐसे सुखी रहना चाहें जैसे मैंने सुख को परिभाषित किया। ऐसा कह कर, मैं विश्वास करता हूँ कि यह स्पष्ट है कि मैं हर व्यक्ति को अपनी वर्तमान जीवन पद्धति को त्याग कर कोई नया नियम या विचारधारा अपनाने का सुझाव नहीं दे रहा हूँ । बल्कि मेरा आशय यह सुझाव देने से है कि हर व्यक्ति अपनी जीवन पद्धति को बरकरार रखते हुए, स्वयं में परिवर्तन ला सकता है, बेहतर बन सकता है, अधिक करुणाशील एवं और सुखी व्यक्ति हो सकता है। इस प्रकार अपने में सुधार लाते हुए ज्यादा करुणामय व्यक्ति बनकर हम आध्यात्मिक क्रान्ति की शुरूआत कर सकते हैं।

[1]

किसी छोटे कार्य में लगे हुए व्यक्ति का समाज के कल्याण में योगदान एक चिकित्सक, शिक्षक, भिक्षु अथवा भिक्षुणी से तुच्छ नहीं है। सभी मानवीय प्रयास में महान एवं भव्य होने की क्षमता है। जब तक हम अपना कार्य अच्छी प्रेरणा से करते हैं एवं यह सोचते हुए कि हमारा कार्य दूसरों के हित के लिए है, तब तक हमारा प्रयास हमारे वृहत्तर समुदाय के हित में होगा। लेकिन जब दूसरों की भावना एवं कल्याण की मंशा का अभाव होगा तब हमारी गतिविधियों के बिगड़ जाने की सम्भावना रहती है। मूलभूत मानवीयता की वेदना के बिना धर्म, राजनीति, आर्थिक नीति इत्यादि दूषित हो सकते हैं। मानवता की सेवा करने के बजाय वे इसके विनाश का कारण बन जाते हैं।

[2]

इसलिए वैश्विक उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करने के साथ हमें वास्तव में उत्तरदायी व्यक्ति भी बनना आवश्यक है। जब तक हम अपने सिद्धांतों को व्यवहार में नहीं

लाते हैं तब तक वे सिर्फ नाम के लिए रहते हैं। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, एक राजनेता, जिसमें वास्तव में जिम्मेदारी की भावना है, के लिए उचित है कि वह ईमानदारी एवं शुद्धता के साथ व्यवहार करे। एक व्यवसायी के लिए उचित है कि अपने हर उद्यम में दूसरों के हित को ध्यान में रखे। एक वकील के लिए यह उचित है कि वह अपनी निपुणता का उपयोग अन्याय का विरोध करने के लिए करे।

[3]

अवश्य ही यह कहना कठिन है कि वैश्विक उत्तरदायित्व के लिए हमारी वचनबद्धता का हमारे आचरण पर कैसा प्रभाव पड़ता है। इसके लिए मेरे पास कोई विशेष मानदण्ड नहीं है। बस मैं इतनी आशा करता हूँ कि जो यहाँ लिखा हुआ है वह पाठक को अर्थपूर्ण लगे एवं आप अपने दैनिक जीवन में करुणामय बनने का प्रयास करें, एवं दूसरों के लिए उत्तरदायित्व की भावना के साथ उनकी यथासम्भव सहायता करें। अगर आप टपक रहे नल के पास से गुजर रहे हों तो आप उसे बंद कर दें। अगर आपको व्यर्थ में बिजली का बल्ब जलता दिखाई दे तो आप वही करें। अगर आप एक धार्मिक साधक हैं और कल आप किसी अन्य धर्म के अनुयायी से मिलते हैं तो आप उनके प्रति वही आदर प्रदर्शित करें जो आप उससे स्वयं के लिए आशा करते हैं। अथवा अगर आप एक वैज्ञानिक हैं और आप देखते हैं कि आपका अनुसन्धान दूसरों की हानि कर सकता है तो फिर अपनी जिम्मेदारी समझते हुए ऐसे कार्य को रोकें। अपनी क्षमता के अनुसार एवं अपनी परिस्थिति की सीमा को देखते हुए आप यथासम्भव प्रयास करेंगे। मैं इससे ज्यादा किसी प्रतिबद्धता के लिए नहीं कह रहा हूँ। अगर कुछ अवसरों पर आपका आचरण अन्य अवसरों से ज्यादा करुणामय है, तो वह सामान्य बात है। इसी तरह जो मैं कह रहा हूँ अगर वह लाभकर नहीं लगे तो कोई बात नहीं। महत्वपूर्ण बात यह है कि जो भी हम दूसरों के लिए करते हैं, बलिदान करते हैं, वह स्वेच्छा से हो और वह कार्य उनके लाभ की समझ से उत्पन्न होना चाहिए।

[4]

मेरी अभी हाल की न्यूयार्क यात्रा के दौरान मेरे एक मित्र ने बताया कि अमेरिका में अरबपतियों की संख्या कुछ ही वर्षों में सत्रह से बढ़ कर कई सौ हो गयी है। उसी समय गरीब, गरीब ही रह गए हैं एवं कुछ स्थितियों में और गरीब हो गए हैं। मैं इसे पूर्ण रूप से अनैतिक समझता हूँ। यह कई समस्याओं का स्रोत भी बन सकता है। जहाँ लाखों लोगों के पास जीवन की मूलभूत जरूरतों जैसे पर्याप्त भोजन, आवास, शिक्षा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं को पूरा करने का सामर्थ्य नहीं हो वहां आर्थिक वितरण में असमानता एक कलंक की तरह है। अगर सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती या उन्हें इससे भी अधिक प्राप्त हो सकता तो फिर कुछ का विलासितापूर्ण जीवन क्षम्य था। अगर सचमुच

हर व्यक्ति की यही कामना होती तो फिर यह तर्क करना कठिन था कि उन्हें ऐसी स्वंतन्त्रता से जीने के अधिकार से स्वयं वंचित करें, जैसे जीवन को वे उचित समझते थे। लेकिन यथार्थ वैसा नहीं है। हमारी एक ही दुनिया में ऐसे स्थल हैं, जहाँ लोग बचे हुए भोजन को फेंक देते हैं, जबकि उनके निकट हमारे साथी मनुष्यों और निर्दोष बच्चों को कूड़े में से खाना ढूँढना पड़ता है एवं कई को भूखे रहना पड़ता है। यद्यपि मैं यह नहीं कह सकता हूँ कि समृद्ध लोगों की विलासिता में कोई बुराई है। संभव है , उन्होंने धनोपार्जन गलत तरीके से नहीं किया हो और वे अपना ही पैसा खर्च करे रहे हैं, तो भी मैं यह अवश्य कहूँगा कि ऐसा करना व्यर्थ है और धन को बर्बाद करना है।

[5]

इसके अतिरिक्त, मैं यह देख कर अचम्भित होता हूँ कि अमीर लोगों का जीवन बेतुके रूप से जटिल होता है। एक मित्र ने मुझे अपने एक बहुत अमीर परिवार के साथ हुए अनुभव के बारे में बताया कि वह जब भी तैरने जाते थे, उन्हें तैरने के बाद हर बार नया लबादा दिया जाता था, भले ही वह एक ही दिन में कई बार तैरने जाते थे। यह विचित्र हास्यास्पद बात है। मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि ऐसी चीजों से किसी को कैसे अधिक आराम मिल सकता है। हम मनुष्यों के पास एक ही पेट है। हम एक सीमित मात्रा में भोजन ग्रहण कर सकते हैं। ऐसे ही हमारे पास आठ उँगलियाँ एवं दो अंगूठे हैं, हम सौ अंगूठियां नहीं पहन सकते। पसंद को लेकर जो भी तर्क हो उन क्षणों में अतिरिक्त अंगूठियों की कोई उपयोगिता नहीं है, जब हम अंगुली में एक अंगूठी पहने हुए हैं। बाकी बक्से में बेकार पड़ी रहती हैं। जैसा कि मैंने भारत के एक बहुत अमीर परिवार के सदस्यों को सुझाव दिया था, धन का उचित प्रयोग परोपकारी दानकर्म में है। इस घटना में, उनके प्रश्न के उत्तर में मैंने यह भी सुझाव दिया था कि शिक्षा पर धन व्यय करना सबसे उत्तम होगा। विश्व का भविष्य हमारे बच्चों के हाथ में है। इसलिए अगर हम अधिक करुणात्मक,एवं जिसके कारण उत्तम विश्व का, निर्माण करना चाहते हों तो यह महत्वपूर्ण है कि हम अपने बच्चों को जिम्मेदार, स्नेहशील मनुष्य बनायें। जब कोई व्यक्ति धनी परिवार में पैदा होता है या किसी और तरीके से धन इकट्ठा करता है, उसे औरों का कल्याण करने का बड़ा अवसर मिलता है। यह बहुत दुःख की बात है, जब उस अवसर को अपने ऊपर पैसे उड़ाने में गवाँया जाता है।

[6]

मैं दिल से मानता हूँ कि विलासिता वाला जीवन अनुचित है, इतना कि मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं जब भी किसी आरामदायक होटल में ठहरता हूँ एवं दूसरों को महंगा खान-पान करते हुए देखता हूँ, जबकि बाहर ऐसे लोग होते हैं , जिनके पास रात बिताने की भी कोई जगह नहीं, मुझे बहुत कष्ट होता है। इससे मेरी इस भावना को बल मिलता है कि मैं इन अमीर या गरीब लोगों से कोई भिन्न नहीं हूँ। सुख की कामना में एवं दुःख से बचने की इच्छा में

हम सभी समान हैं। हम सभी को सुखी रहने का समान अधिकार है। इस कारण से मुझे लगता है कि अगर मैं मजदूरों का प्रदर्शन गुजरते हुए देखूं तो मैं उसमें अवश्य ही शामिल हो जाऊँगा। हाँ, यह सच है कि जो व्यक्ति यह सब कह रहा है वह उनमें से एक है जो होटल का आनंद ले रहा है। निश्चय ही मुझे और अधिक करने की जरूरत है। यह भी सत्य है कि मेरे पास कई कीमती घड़ियां हैं। यद्यपि मैं सोचता हूँ कि अगर मैं उन्हें बेच देता तो शायद गरीब लोगों के लिए कुछ झोपड़ियाँ बनवा सकता था। ठीक उसी प्रकार मैं यह भी समझता हूँ कि अगर मैं दृढ़ता से शाकाहरी भोजन ग्रहण करता तो एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करने के साथ-साथ मैं कुछ निर्दोष पशुओं का जीवन भी बचाता। अभी तक मैंने ऐसा नहीं किया है एवं कुछ क्षेत्रों मेरे विचार और व्यवहार में असंगति को मुझे अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए। इसके साथ मैं यह नहीं सोचता हूँ कि हर व्यक्ति में महात्मा गांधी की तरह एक निर्धन किसान के जैसा जीवन जीने की क्षमता है या उन्हें ऐसे जीना चाहिए। ऐसी निष्ठा बहुत अच्छी है एवं अत्यन्त प्रशंसनीय है। लेकिन यह मेरा महत्वपूर्ण सुझाव है कि हम बिना अति किये यथासंभव निष्ठावान जीवन जीने का प्रयास करें।

[7]

मनन योग्य प्रश्न

१. एक जिम्मेदार व्यक्ति बनने में क्या शामिल है?

२. समाज में सर्वव्यापी असमानता के खतरे क्या हैं?

३. हम चरम पर जाने के बिना नैतिक आचरण के लिए कैसे प्रतिबद्ध हो सकते हैं?

अध्याय १३ - समाज में नैतिकता

जब हम स्वयं को दूसरों के हित के हेतु कार्य करने के आदर्श के लिए प्रतिबद्ध होते हैं तो फिर इस भावना का प्रभाव हमारी सामाजिक एवं राजनीतिक नीतियों पर भी होना चाहिए । मैं ऐसा इसलिए नहीं कहता हूँ क्योंकि इससे हम समाज की सभी समस्याओं का समाधान रातों रात कर डालेंगे। बल्कि इसलिए कि मेरा पूर्ण विश्वास है कि जब तक एक वृहत करुणा, जिसके लिए मैं पाठकों से आह्वान कर रहा हूँ, राजनीति का मार्गदर्शन नहीं करेगी तब तक हमारी सरकारी नीतियां सम्पूर्ण मानवता की सहायता करने के विपरीत शायद हानि करेगी। मेरा विचार है कि हमें अवश्य ही वर्तमान एवं भविष्य में सभी के लिए उत्तरदायित्व स्वीकार करने के लिए व्यावहारिक कदम उठाना चाहिए । यह तब भी सत्य है जब इस करुणा से प्रोत्साहित एवं, उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय हितों से प्रेरित सरकारी नीतियों में भले ही थोड़ी व्यावहारिक भिन्नता हो।

[1]

अब यद्यपि यह निश्चित है कि करुणा, संयम, बुद्धिमता पूर्ण विवेक, एवं सद्गुणों का विकास लिए अगर मेरे सुझावों का बड़े पैमाने पर अमल हो तो संसार स्वतः एक ज्यादा करुणामय और अधिक शान्त स्थल बन जायेगा । मैं विश्वास करता हूँ कि वास्तविकता हमें अपनी समस्याओं के समाधान का हल व्यक्तिगत स्तर पर ढूंढने के साथ सामाजिक स्तर पर भी ढूंढने के लिए बाध्य करती है। विश्व में सुधार तब आएगा जब प्रत्येक व्यक्ति अपने नकारात्मक विचारों एवं मनोभावनाओं के प्रतिकार का प्रयास करेगा एवं जब हम विश्व के सभी लोगों के लिए करुणा का अभ्यास करेंगे, बिना यह सोचे कि उनसे हमारा साक्षात सम्बन्ध है या नहीं ।

[2]

यह देखते हुए, मेरी धारणा में कई क्षेत्र हैं जिन पर हमें वैश्विक उत्तरदायित्व के प्रकाश में विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। इनमें सम्मलित हैं शिक्षा, संचार माध्यम, हमारा प्राकृतिक वातावरण, राजनीति एवं अर्थ व्यवस्था, शान्ति एवं निःशस्त्रीकरण, तथा धर्मों के बीच सौहार्द्रता। हर एक की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका है एवं मेरा निवेदन है कि हम एक-एक कर संक्षेप में उनकी परीक्षा करें।

[3]

ऐसा करने से पहले मैं यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि यहाँ मैं जो कुछ भी अभिव्यक्त कर रहा हूँ वे मेरे व्यक्तिगत विचार हैं। ये विचार ऐसे व्यक्ति के भी हैं, जो इन विषयों की सूक्ष्मता का विशेषज्ञ होने का दावा नहीं करता है। लेकिन, अगर, मेरे विचार आपत्तिजनक लगें तो मेरी आशा है कि कम से कम पाठक एक क्षण रूक कर सोचने के लिए बाध्य होंगे। यद्यपि इस

विषय पर विभिन्न मतों का होना आश्चर्यजनक नहीं है कि इन्हें कैसे वास्तविक नीति में परिवर्तित किया जाये, लेकिन मूलभूत आध्यात्मिक मूल्य तथा आंतरिक नैतिक अनुशासन के लिए करुणा की आवश्यकता एवं नैतिक आचरण के महत्व को लेकर मेरी दृष्टि में कोई विवाद नहीं है।

[4]

शिक्षा एवं संचार का माध्यम

जब मैं भारत में तिब्बती शरणार्थियों के स्कूल में होता हूँ, अथवा विदेश में छात्रों से बात करता हूँ, मैं बच्चों से मिलकर हमेशा बहुत प्रसन्न होता हूँ। बच्चों में न्याय एवं शांति के लिए स्वाभाविक उत्साह होता है और वे वयस्कों की तुलना में ज्यादा खुले विचारों के होते हैं एवं उनकी सोच में लचीलापन होता है। परिवर्तन की ओर हमारा रुख कितना भी अच्छा क्यों न हो, हम वयस्क निःसंदेह ही परिवर्तन को ज्यादा कठिन पाते हैं। बच्चों से मिलकर मुझे यह भी स्मरण होता है कि बच्चे मानवता की सबसे बहुमूल्य संपत्ति हैं। क्योंकि उनका नैतिक दृष्टिकोण उनके पालन पोषण पर निर्भर करता है । यह महत्वपूर्ण है कि हम उन्हें उचित शिक्षा देने का उत्तरदायित्व लें ।

[5]

मनुष्य का चित्त(लो) हमारी समस्त समस्याओं का स्रोत एवं समीचीन रूप से मार्ग दर्शाये जाने पर, उनका समाधान भी है। जिन्हें अच्छी शिक्षा मिली है, लेकिन जिनका दिल अच्छा नहीं है, उन्हें चिंता एवं बेचैनी का शिकार होने का खतरा रहता है, जो उनकी समस्त कामनाओं की पूर्ति करने की अक्षमता का परिणाम होता है। इसके विपरीत आध्यात्मिक मूल्यों का समीचीन अवबोध होने पर उसका प्रतिकूल प्रभाव होता है। अगर हम अपने बच्चों को करुणा के ज्ञान के बिना पालन पोषण करते हैं तो उनका दूसरों के प्रति मिश्रित रव्वैया हो सकता है कि अपने से अच्छी परिस्थिति के लोगों के प्रति ईर्ष्या, अपने सहकर्मियों के प्रति उग्र प्रतिद्वंदिता और अपने से निम्न स्थिति के लोगों के प्रति तिरस्कार करें। इससे उनमें लोभ, घमंड, विलासिता की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है एवं वे शीघ्र ही अपनी प्रसन्नता खो बैठते हैं। ज्ञान महत्वपूर्ण है। लेकिन यह काफी निर्भर इस पर करता है कि इसका उपयोग कैसे किया जाता है। यह उपयोग करने वाले के दिल और दिमाग पर निर्भर करता है।

[6]

शिक्षा का महत्त्व जानकारी एवं दक्षता द्वारा संकीर्ण लक्ष्य प्राप्त करने से बहुत ज्यादा वृहत है। यह बच्चों की आँखें दूसरों की जरुरतों एवं अधिकारों की ओर खोलने के लिए है। हमें

बच्चों को उनके आचार का वैश्वीय आयाम दिखाना चाहिए और हमें किसी प्रकार से उनकी स्वाभाविक सहानुभूति की भावना को निखारना चाहिए ताकि उनके अंदर दूसरों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना पनप सके। यही भावना हमें सत्कार्य करने के लिए जगाती हैं। वास्तव में अगर हमें सीखने एवं सद्गुण के बीच चुनाव करना हो तो निश्चय ही सद्गुण ज्यादा मूल्यवान हैं। परोपकारी हृदय जो सद्गुण का फल है, अपने आप में ही मानवता के लिए बहुत लाभप्रद है। अकेला जानकारी नहीं है।

[7]

लेकिन हम बच्चों को नैतिकता कैसे पढ़ा सकते हैं? मेरी धारणा है कि सामान्यतः आधुनिक शिक्षा प्रणाली नैतिक विषयों की चर्चा को अनदेखा करती है। यह शायद सोच समझ कर नहीं किया गया है बल्कि यह एक वास्तविक ऐतिहासिक घटनाक्रम का उपफल है। धर्म निरपेक्ष शिक्षा प्रणाली की स्थापना ऐसे समय हुई थी, जब धार्मिक संस्थाएँ सम्पूर्ण समाज में काफी प्रभावशाली थीं। क्योंकि नैतिक एवं मानवीय मूल्यों को तब भी और अब भी धर्म के क्षेत्र की परिधि के अंदर समझा जाता था, यह माना जाता था कि बच्चों की शिक्षा का यह भाग उनके धार्मिक पालन पोषण के द्वारा सम्पन्न हो जाएगा। यह धारणा तब तक सफल रही जब तक धर्म का प्रभाव क्षीण नहीं होने लगा । लेकिन यद्यपि इसकी आवश्यकता अभी भी है, नैतिकता की शिक्षा बच्चों को नहीं मिल रही है । इसलिए हमें बच्चों को यह दर्शाने का कोई साधन अवश्य ढूंढना चाहिए कि मूलभूत मानवीय आदर्श महत्वपूर्ण हैं। हमें इन आदर्शों का विकास करने में भी उनकी सहायता करनी चाहिए ।

[8]

यह सही है कि अंततोगत्वा दूसरों के हित की चिंता की महत्ता सिर्फ शब्दों से नहीं, बल्कि हमारे आचारण से ही सीखी जा सकती है - जैसे उदाहरण हम देते हैं। यही कारण है कि पारिवारिक वातावरण बच्चे के पालन-पोषण के लिए इतना महत्वपूर्ण क्यों है। अगर घर में करुणा एवं स्नेह पूर्ण देखभाल के वातावरण का अभाव है, अगर माता पिता बच्चों की देखभाल नहीं करते हैं तो उसका बच्चों पर दुष्परिणाम आसानी से दिखता है। बच्चे असहाय एवं असुरक्षित अनुभव करते हैं एवं उनका चित्त अक्सर उत्तेजित रहता है। इसके विपरीत अगर बच्चों को निरन्तर स्नेह एवं सुरक्षा मिलती है तो वे प्रसन्न रहते हैं एवं उनका अपनी योग्यता पर अधिक विश्वास होता है।उनका शारीरिक स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है और हम पाते हैं कि वे सिर्फ अपने ही नहीं बल्कि दूसरों के भी हित का ख्याल रखते हैं। घर का वातावरण इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि बच्चे अपने माता-पिता से नकारात्मक व्यवहार सीखते हैं। उदाहरण के लिये अगर पिता अपने सहकर्मियों के साथ हमेशा लड़ता रहता है अथवा अगर माता एवं पिता हमेशा विवाद करते रहते हों तो यद्यपि बच्चों को

प्रारम्भ में यह शायद अनुचित लगे, लेकिन अंततः वे इसे सामान्य बात समझने लगेंगे। फिर यही सीख बच्चे घर से बाहर दुनिया में ले जाते हैं।

[9]

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि बच्चे नैतिक आचारण के बारे में जो विद्यालय में सीखते हैं सर्व प्रथम उसके अभ्यास की जरूरत है। इसमें शिक्षकों का विशेष उत्तरदायित्व है। अपने व्यवहार से ही जीवन भर के लिए बच्चों को अपना स्मरण दे सकते हैं। अगर उनका व्यवहार सैद्धांतिक, अनुशासित एवं करुणामय है तो उनकी शिक्षा बच्चों के चित्त पर अच्छा छाप छोड़ती है। ऐसा इसलिए है कि एक अध्यापक के द्वारा अच्छी प्रेरणा (कुन लोड्) से दी गई शिक्षा बच्चे के मन पर गहराई से प्रभाव छोड़ती है। मैं इसे अपने अनुभव से जानता हूँ। बचपन में मैं काफी आलसी था। लेकिन जब मुझे अपने शिक्षक के स्नेह एवं चिंता का पता रहता था, सामान्यत: उनकी पढ़ाई मेरे दिमाग में ज्यादा आसानी से घुसती थी बनिस्बत उन शिक्षकों की पढाई के जो कठोर अथवा शुष्क होते थे ।

[10]

जहाँ तक शिक्षा के विशेष मुद्दों का प्रश्न है वह विशेषज्ञों का क्षेत्र है। मैं सिर्फ कुछ सुझाव दूंगा। प्रथम यह कि बच्चों के मन को मूलभूत मानवीय मूल्यों के महत्त्व की ओर जागृत करने के लिए उत्तम यह होगा कि समाज की समस्याओं को सिर्फ नैतिक अथवा धार्मिक विषय-वस्तु के रूप में प्रस्तुत न करें।इस बात पर जोर देना आवश्यक होगा कि यह हमारे अस्तित्व का प्रश्न है। इस प्रकार वे देख पायेंगे कि भविष्य उनके हाथों में है। दूसरा यह है, मैं विश्वास करता हूँ, कि ऐसे वार्तालाप कक्षा में हो सकते हैं और इसे सिखाया जाना चाहिए। छात्रों को एक विवादास्पद विषय दे कर उस पर बहस करवाना बच्चों को अपने मतभेदों को अहिंसात्मक ढंग से सुलझाने की कला को सिखाने का उत्तम तरीका है। वास्तव में हम आशा कर सकते हैं कि अगर विद्यालय इसे प्राथमिकता दें तो इसका पारिवारिक जीवन पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा। अपने माता-पिता को झगड़ते हुए देखकर, एक बच्चा जिसको वार्तालाप के मूल्य की समझ है सहज रूप से कहेगा, “ ऐसा नहीं करें । आपको उचित तरीके से समझने की बात करनी चाहिए”।

[11]

अन्त में यह नितांत आवश्यक है कि हमें दूसरों को गलत रूप में दिखाने की प्रवृत्ति को पाठ्यक्रम से हटाना चाहिए। बिना संदेह के विश्व में ऐसे भी स्थान हैं, जहाँ इतिहास की शिक्षा में उदाहरण के लिए अन्य समुदाय के प्रति कट्टरता एवं जातीयता को बढ़ावा दिया जाता है। अवश्य ही यह अनुचित है। इससे मनुष्य के सुख के लिए कोई योगदान नहीं होता है। शायद इसकी इतनी आवश्यकता कभी नहीं थी जितनी अभी है कि हम अपने बच्चों को

यह दिखाएँ कि "अपना देश" एवं "तुम्हारा देश", "मेरा धर्म" एवं "तुम्हारा धर्म" के भेद गौण हैं । अवश्य ही, हमें यह देखने पर जोर देना चाहिए कि हमारा सुख औरों के सुख की तुलना में ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि हमें बच्चों को अपनी सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं को त्यागने अथवा अवहेलना करने की शिक्षा देनी चाहिए। बल्कि यह आवश्यक है कि उन्हें इनका अच्छा ज्ञान हो। यह उत्तम है कि बच्चों को अपने देश, धर्म, संस्कृति इत्यादि के लिए प्रेम हो। लेकिन खतरा तब होता है जब यह प्रेम संकीर्ण राष्ट्रीयता, जातीयता एवं धार्मिक कट्टरता का रूप ले लेता है। महात्मा गांधी का उदाहरण यहाँ प्रासांगिक है। यद्यपि उन्हें उच्च स्तर की पाश्चात्य शिक्षा उपलब्ध हुई थी, वे कभी भारत की समृद्ध संस्कृति को भूले नहीं अथवा उससे अलग नहीं हुए ।

[12]

शिक्षा एक ज्यादा शान्त एवं खुशहाल विश्व के हमारे प्रयास के लिए सबसे शक्तिशाली साधन है, जनसंचार माध्यम दूसरे स्थान पर है। जैसा कि हर राजनेता जानता है, अब समाज में सिर्फ उसी का वर्चस्व नहीं है। उसके अलावा अखबार एवं किताब, रेडियो, फिल्म एवं टेलीविजन मिलकर व्यक्ति पर ऐसा प्रभाव डालते हैं जिसकी सौ साल पहले कल्पना भी असंभव थी। ऐसी शक्ति उन सभी लोगों पर बड़ा उत्तरदायित्व सौंपती है, जो जनसंचार माध्यम के क्षेत्र में कार्यरत हैं। यह हम सब पर भी एक बड़ा उत्तरदायित्व डालती है, जो एक व्यक्ति के रूप में सुनते हैं, पढ़ते हैं, और देखते हैं। इसमें हमारी भी भूमिका है। हम संचार माध्यम के सामने असहाय नहीं हैं । इसे नियंत्रित करने का बटन आख़िरकार हमारे हाथ में है ।

[13]

इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं शुष्क पत्रकारिता की वकालत कर रहा हूँ अथवा उबाऊ मनोरंजन की । बल्कि जहाँ तक तहकीकात वाली पत्रकारिता का प्रश्न है, मैं समाचार माध्यम के हस्तक्षेप की प्रशंसा और सम्मान करता हूँ। सारे सरकारी कर्मचारी अपने कार्य में ईमानदार नहीं होते हैं। इसलिए यह उचित है कि ऐसे पत्रकार हों जिनकी नाक हाथी के सूंढ़ की तरह लम्बी हो, जो चारों तरफ सूंघती हो एवं छुपे हुए भ्रष्टाचार का भंडा फोड़ती हो। हमें यह जानना जरूरी है कि किस प्रसिद्ध व्यक्ति के खुशनुमा चेहरे के पीछे कोई और सच छिपा हुआ है । व्यक्ति के बाहरी दिखावे एवं अंदरूनी जीवन में कोई असंगति नहीं रहे। अंततः एक ही व्यक्ति है। ऐसी असंगति बताती है कि वह व्यक्ति अविश्वसनीय है। साथ ही साथ यह अत्यावश्यक है कि जांचकर्ता किसी अनुचित प्रेरणा से कार्य न करें। निष्पक्षता एवं दूसरों के अधिकार के आदर के बिना जांच-पड़ताल स्वयं ही कलंकित हो जाता है।

[14]

जहाँ तक संचार माध्यम के यौन सम्बन्ध एवं हिंसा पर जोर देने का प्रश्न है, यहाँ कई तत्वों पर ध्यान देने की जरूरत है। सबसे पहले यह जानना ज़रूरी है कि अधिकांश दर्शकगण ऐसी सनसनीखेज सामग्री का आनंद लेते हैं। दूसरे यह कि मुझे संदेह है कि जो ऐसी अश्लील एवं हिंसा से भरी हुई सामग्री का निर्माण करते हैं, उनका ध्येय किसी की हानि करना होता है। उनका उद्देश्य निश्चय ही केवल व्यावसायिक है । यह उचित है या अनुचित, मेरी धारणा में इस प्रश्न की तुलना में यह कम मायने रखता है कि इसका नैतिक रूप से कुशल परिणाम होगा या नहीं। अगर किसी मारधाड़ वाली फिल्म को देखकर दर्शक के ह्रदय में करुणा जगती हो तो शायद उस फिल्म में हिंसा दिखाना उचित हो। लेकिन अगर हिंसा को देखकर दर्शक संवेदनहीन होने लगें तो मैं सोचता हूँ कि यह अनुचित है। वास्तव में हृदय का ऐसे कठोर होना खतरे का बीज है। यह आसानी से संवेदनहीनता की ओर ले जाती है।

[15]

जब संचार माध्यम का ध्यान मनुष्य के चरित्र के नकारात्मक पहलू पर बहुत ज्यादा दिया जाता है, तब यह खतरा रहता है कि हम मानने लगें कि हिंसक एवं आक्रामक होना हमारे चरित्र का मुख्य स्वभाव है। मेरी धारणा में यह गलत है। हिंसा की घटना का समाचार योग्य होना ठीक उल्टा सिद्ध करती है। निश्चय ही अच्छे समाचार कम दिखते हैं, जबकि उनकी संख्या बहुत होती है। सोचिए तो विश्व भर में किसी भी क्षण अरबों करुणात्मक कार्य हो रहे होते हैं। यद्यपि निसंदेह ही बहुत सारी हिंसात्मक घटनाएँ भी एक ही समय हो रही होती हैं, उनकी संख्या निश्चय ही बहुत कम है। इसलिए अगर संचार माध्यम को नैतिक रूप से उत्तरदायी होना है, तो इस सामान्य तथ्य को भी स्पष्ट करना चाहिए ।

[16]

स्पष्ट है कि संचार माध्यमों पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता है। हम बच्चों को कुछ कार्यक्रम देखने से रोकते हैं, यह बात साबित करती है कि हम पहले से ही उचित और अनुचित के बीच परिस्थिति के अनुसार भेद करते हैं। लेकिन यह निर्णय करना कठिन है कि क्या इसके लिए कानून बनाना उचित उपाय है। जैसा कि नैतिकता के हर तथ्य के लिए सच है, अनुशासन तभी वास्तव में सफल होता है, जब वह हृदय से आता है। शायद यह निश्चित है कि उसका सबसे उत्तम उपाय है बच्चों को सही शिक्षा देना। अगर हम उन्हें उम्र के साथ अपने उत्तरदायित्व को समझने की शिक्षा देंगे तो वे ज्यादा अनुशासित होंगे जब वह संचार माध्यम में हिस्सा लेंगे ।

[17]

शायद यह आशा करना कुछ ज्यादा हो कि संचार माध्यम वास्तव में करुणा के आदर्श एवं सिद्धांतों को आगे बढ़ाएंगे, कम से कम हमें यह आशा करनी चाहिए कि जो इस व्यवसाय में हैं, जब हानि होने की सम्भावना हो तब ऐसे मामलों में वे सावधान रहेंगे। कुछ नहीं तो जातीय हिंसा जैसी विनाशकारी घटनाओं को भड़काने का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। इससे ज्यादा मैं कुछ नहीं कह सकता। शायद हम कोई ऐसा मार्ग खोज सकें जिससे हम समाचार एवं मनोरंजक कार्यक्रम की कहानी लिखने वाले तथा दर्शक, पाठक एवं श्रोताओं को एक दूसरे के ज्यादा निकट ला सकें।

[18]

विश्व का वातावरण

मेरी धारणा में अगर एक विषय है जिसमें शिक्षा एवं संचार माध्यम दोनों का विशेष उत्तरदायित्व है तो वह है हमारा प्राकृतिक पर्यावरण। पुनः इस उत्तरदायित्व का प्रश्न सही या गलत से कम एवं हमारे जीवित रहने के सम्बन्ध से ज्यादा है। यह प्राकृतिक विश्व हमारा घर है। यह अनिवार्य रूप से पवित्र या पूजनीय नहीं है, बस यह है कि हम मात्र यहाँ निवास करते हैं। इसलिए इसी में हमारा कल्याण है कि हम इसकी देखभाल करें। यह सामान्य ज्ञान की बात है। लेकिन हाल में ही हमारी जनसंख्या एवं वैज्ञानिक तथा तकनीकी शक्ति इतनी बढ़ गयी है कि इसका हमारे पर्यावरण पर सीधा, गहरा प्रभाव हो रहा है। अन्य शब्दों में अभी तक धरती माता हमारी बेढंगी घरेलू आदतों को झेलने में सक्षम रही है। लेकिन अब वह स्तर आ गया है जब वह हमारे व्यवहार को चुपचाप सहन नहीं कर सकती है। पर्यावरण के क्षय से जो समस्याएँ हो रही हैं उन्हें हमारे गैर जिम्मेदार व्यवहार के उत्तर के रूप में देखा जा सकता है। वे हमें चेतावनी दे रही हैं कि उसकी सहन करने की क्षमता की भी सीमा है ।

[19]

हम पर्यावरण के साथ कैसे सम्बन्ध रखते हैं, जिसके लिए अनुशासित व्यवहार में विफलता का जितना भयंकर परिणाम आज के तिब्बत में देखने को मिलता है, वैसा शायद और कहीं नहीं मिले। यह कोई अतिशियोक्ति नहीं होगी कि जिस तिब्बत में मैं बड़ा हुआ वह वन्य जीवन का स्वर्ग था। बीसवीं सदी के मध्य से पहले तिब्बत में भ्रमण करने वाला हर पर्यटक इस बात पर टिप्पणी करता था। पशुओं का विरले शिकार किया जाता था, सिवाय उन दूर दराज़ के क्षेत्रों के जहाँ कोई फसल नहीं थी । वास्तव में सरकारी अधिकारी एक परंपरा के रूप में हर वर्ष आदेश निकालते थे, "कोई चाहे छोटा हो या बड़ा हो, किसी जल या वन के प्राणी की क्षति या उसके साथ हिंसा नहीं करेगा।" सिर्फ चूहे या सियार इसके अपवाद थे।

[20]

युवावस्था में मेरा स्मरण है कि जब भी मैं ल्हासा से बाहर निकलता था, मैं नाना प्रकार के जीव जन्तुओं को देखता था। मेरी सबसे मुख्य स्मृति है चार वर्ष की उम्र में पूरे तिब्बत हो कर तीन महीने की यात्रा जो ल्हासा के पूर्व दिशा स्थित मेरे जन्म स्थल तकछेर से शुरू हुई थी, जब मुझे दलाई लामा घोषित किया जाना था और उस यात्रा में मैंने अनेक जंगली जीव जंतु देखे। विराट संख्या में जंगली गधों (क्याङ्) एवं जंगली याक (ड्रॉङ्) के झुण्ड तिब्बत के विशाल मैदानों में घूमते थे। कभी कभी हमें झिलमिलाती गोवा, शर्मीले तिब्बती हिरन, श्वेत होंठों वाले मृग अथवा छो तथा हमारे राजशाही हिरण के झुण्ड की भी झलक मिलती थी। मुझे यह भी स्मरण है कि मुझे छोटे छीबी अथवा पीका कितने अनोखे लगे थे, जब वे घास के मैदान में इकट्ठे होते थे। वे बहुत मिलनसार जीव थे। मुझे पंछियों को देखने में काफी आनंद आता था, जैसे पहाड़ों में स्थित विहारों के बहुत ऊपर उड़ते हुए गौरवशाली गो (दाढ़ी वाले बाज), हंसों (नङ्बर) के झुण्ड एवं कभी कभी रात में हमें लम्बे कान वाले उल्लूओं (वूक्पा) की आवाज भी सुनने के लिए मिलती थी।

[21]

यहाँ तक ल्हासा में भी कभी किसी को यह नहीं लगता था कि वह प्राकृतिक जीवन से कटा हुआ है । पोटाला के ऊँचले हिस्से पर अपने कमरे से, जो दलाई लामा का जाड़े का निवास था, बचपन में मैंने अनगिनत घंटे लाल चोंच वाले ख्युंगकर के व्यव्हार के अध्ययन में व्यतीत किये थे, जो दीवारों के बीच छिद्रों में घोसला बना कर रहते थे एवं नॉरबुलिंगका के पीछे अपने ग्रीष्म ऋतु के निवास में मैं अक्सर टृनग - टृनग के जोड़ों को देखता था जो मेरे लिए सुन्दरता एवं मनोहरता के मिसाल थे एवं दलदली भूमि पर रहते थे। फिर तिब्बत के वन्य जंतुओं का क्या कहना: भालू एवं पहाड़ी सियार, चंकु (भेड़िये) एवं सजिक (खूबसूरत हिम व्याघ्र) एवं सिक (वनबिलाव) जो घुमक्कड़ किसानों के ह्रदय में भय जगाते थे, और कोमल चेहरे वाला पाण्डा जो चीन एवं तिब्बत के सीमा क्षेत्र का देशी जंतु है।

[22]

दुर्भाग्यवश वन्य जीवन की वह प्रचुरता अब नहीं रही । आंशिक रूप से यह शिकार के कारण है, लेकिन इसका मुख्य कारण है, उनके निवास की जगह नहीं बची। तिब्बत पर कब्ज़ा के अर्धशतक बाद पहले की तुलना में एक छोटा सा खण्ड ही बचा है। बिना अपवाद के मैं जिस तिब्बती से भी मिला हूँ, जो तीस या चालीस वर्ष के बाद तिब्बत गए हैं, वे वन्य जीव-जन्तु के चौंकानेवाले अभाव की बात करते हैं। जहाँ जंगली जन्तु अक्सर घर के निकट तक पहुंच जाते थे, अब उन्हें कहीं भी देखना दुर्लभ है।

[23]

तिब्बत के जंगलों का विनाश भी उतना ही चिंताजनक है । पहले के दिनों में सारे पर्वत घने जंगलों से ढके हुए थे। आज जो लोग वापस गये हैं, बताते हैं कि वही पर्वत भिक्षु के मुड़ाये हुए सिर की तरह हो चुके हैं। चीन की सरकार ने स्वीकार किया है कि पूर्वी चीन और उससे आगे की विनाशकारी बाढ़ का कारण कुछ हद तक यही है । फिर भी मुझे निरंतर समाचार मिलता है कि चौबीसो घंटे लकड़ी के कुंदों से लदे हुए ट्रक तिब्बत से पूर्व की ओर जाते हुए दिखते हैं । यह विशिष्ट रूप से शोकजनक है, क्योंकि तिब्बत पर्वतीय क्षेत्र है एवं वहां का वातावरण काफी कठिन है। इसका अर्थ है कि पुनर्वनीकरण पर काफी ध्यान देने एवं देखभाल की आवश्यकता है । दुर्भाग्य से ऐसा कुछ देखने के लिए नहीं मिल रहा है ।

[24]

जो भी कहा जा रहा है इसका अर्थ यह नहीं है कि तिब्बत के लोग ऐतिहासिक रूप से सोच समझ कर "संरक्षण कर्ता" थे। हमलोग ऐसे नहीं थे । प्रदूषण शब्द का विचार हममें कभी हुआ ही नहीं था। हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि हम इस मामले में थोड़े बिगड़े हुए थे। एक छोटी सी आबादी बड़े से भूभाग में निवास करती थी, जहाँ स्वच्छ एवं शुष्क वायु एवं प्रचुर मात्रा में स्वच्छ पर्वतीय जल उपलब्ध था। स्वच्छता की तरफ हमारी यह भोली-भाली मानसिकता का परिणाम यह हुआ कि जब हम तिब्बत के लोग प्रवास में गए हम ऐसे झरनों को देख कर अचंभित हुए, जिनका जल पीने के लायक नहीं था। जैसा इकलौती संतान के साथ होता है, धरती माता ने हमारे सारे चाल-चलन को बर्दाश्त किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि हमें स्वास्थ्य से सम्बंधित सफाई का ठीक से पता नहीं था। लोग सड़कों पर बिना सोचे थूकते थे या नाक साफ करते थे। वास्तव में ऐसा कहते हुए मुझे एक पूर्व अंगरक्षक वृद्ध खम्पा की याद आती है, जो हर दिन मेरे निवास की परिक्रमा करने आते थे (जो भक्ति का एक लोकप्रिय तरीका है)। दुर्भाग्यवश उन्हें खांसी का प्रकोप था, जो उनके हाथ की अगरबत्ती के कारण और भी बढ़ जाती थी। हर कोने पर वे खांसने के लिए रुकते थे एवं इतने जोर से मुख से कफ थूकते थे कि मैं सोचता था कि वे प्रार्थना करने आते हैं या सिर्फ थूकने।

[25]

प्रवास में आने के बाद इन वर्षों में मैंने पर्यावरण के मामलों में गहरी रूचि ली है। निर्वासित तिब्बती शासन ने अपने बच्चों को इस नाजुक धरती का उत्तरदायी नागरिक बनाने की शिक्षा देने के लिए विशेष ध्यान दिया है और जब भी मुझे अवसर मिलता है, मैं इस विषय पर बात करने से कभी झिझकता नहीं हूँ । विशेष कर मैं हमेशा इस बात पर ध्यान देने के लिए जोर देता हूँ कि हमारे व्यवहार का पर्यावरण पर होने वाले असर से दूसरों पर क्या प्रभाव हो सकता है । मैं स्वीकार करता हूँ कि अकसर इसका मूल्यांकन करना काफी कठिन होता है। हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते हैं कि वनोन्मूलन का मिट्टी पर अथवा स्थानीय वर्षा

पर क्या प्रभाव पड़ सकता है, पृथ्वी के ऋतु चक्र पर पड़ने वाले प्रभाव की बात तो छोड़िए। एक बात स्पष्ट है कि हम मनुष्य ही एक ऐसे प्राणी हैं जिनमें पृथ्वी को जिसे हम जानते हैं, नष्ट करने की क्षमता है। पंछियों में यह क्षमता नहीं है, न ही कीड़ों में अथवा किसी स्तनपायी में। लेकिन, अगर, हम में इसका विनाश करने की क्षमता है तो इसकी रक्षा करने की भी क्षमता है।

[26]

महत्तवपूर्ण यह है कि हम उद्योग के ऐसे तरीके ढूंढे, जिनसे प्रकृति का विनाश हो । हमें ऐसे उपाय ढूंढने चाहिए जिनसे हमें लकड़ी अथवा अन्य सीमित मात्र में उपलब्ध प्राकृतिक सामग्री का न्यूनतम प्रयोग करना पड़े। मैं इस क्षेत्र का विशेषज्ञ नहीं हूँ, एवं मैं यह सुझाव नहीं दे सकता हूँ कि यह कैसे किया जा सकता है। मुझे बस इतना पता है कि यह संभव है, अगर हममें पर्याप्त दृढ़ता हो। उदाहरण के लिए, मुझे स्मरण है कि कुछ वर्ष पहले स्टॉकहोम में मैंने सुना था कि बहुत सालों के बाद नगर के बीच से बहने वाली नदी में मछलियाँ वापस आ गयी थीं । हाल के समय तक औद्योगिक प्रदूषण के कारण वे नहीं थीं। फिर भी यह सुधार सारे स्थानीय उद्योगों को बंद करने से ही नहीं हुआ था। ऐसे ही जर्मनी के भ्रमण के दौरान मुझे एक औद्योगिक प्रणाली दिखाई गयी थी, जो बिना प्रदूषण की उत्पत्ति के बनाई गई थी। इस प्रकार से स्पष्ट है कि बिना कारखानों को बंद किये पर्यावरण पर दुष्प्रभाव को सीमित करने का समाधान संभव है।

[27]

इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी सारी समस्याओं के हल के लिए तकनीकी विकास पर ही पूर्णतया निर्भर रहें। न हीं मैं ऐसा सोचता हूँ । भविष्य के तकनीकी विकास के भरोसे हम अपने विनाशकारी व्यवहार को चलाते रहने का खतरा मोल ले सकते हैं। वैसे भी, पर्यावरण की मरम्मत करने की आवश्यकता नहीं है । इससे सम्बंधित हमारे व्यवहार को बदलने की जरूरत है। मैं प्रश्न करता हूँ कि क्या ग्रीनहाउस गैसों के कारण हमारे सामने भयंकर विनाश की संभावना का कोई समाधान है या नहीं, चाहे यह कल्पना में ही हो। अगर हम मान लें कि समाधान है, हमें पूछना होगा कि क्या उस पैमाने पर इस समाधान का प्रयोग सम्भव होगा, जिसकी आवश्यकता है? उसमें कितना व्यय होगा और कितने परिमाण में प्राकृतिक संसाधनों की आवश्यकता होगी? मेरा संदेह है कि उनका परिमाण इतना ज्यादा होगा कि उनका प्रयोग असम्भव होगा। यह भी एक तथ्य है कि कई क्षेत्रों में -- जैसे भूख से पीड़ित लोगों की मदद के लिए -- पहले से ही पर्याप्त धन की कमी है। इसलिए अगर कोई तर्क भी करे कि हमें पर्यावरण की सुरक्षा हेतु पर्याप्त धन अर्जन करना चाहिए, इतनी बड़ी कमी को देखते हुए नैतिकता की दृष्टि से इतना धन इकट्ठा करने को न्यायसंगत सिद्ध करना कठिन होगा। इतने संसाधनों का प्रयोग करना अनुचित होगा सिर्फ

इसलिए कि औद्योगिक राष्ट्र अपने विनाशकारी उद्यम बरकरार रखें, जबकि विश्व में ऐसे भी स्थान हैं जहाँ लोगों को भरपेट भोजन नहीं मिल पाता है।

[28]

ये सभी हमारे कार्य के वैश्विक आयाम को पहचानने की आवश्यकता के प्रति एवं उसके आधार पर संयम बरतने का संकेत करते हैं। इसकी आवश्यकता और भी गहराई से दिखती है, जब हम अपनी प्रजाति के प्रसार के बारे में सोचते हैं। यद्यपि हर धर्म की मान्यता है कि जितने ज्यादा मनुष्य होंगे उतना उत्तम होगा, यद्यपि यह शायद सत्य भी हो, जैसा कि हाल के अध्ययन बताते हैं कि एक शताब्दी के बाद जनसंख्या का अंतःस्फोट होगा । फिर भी, मेरी धारणा में हम इस मामले को अनदेखा नहीं कर सकते हैं। एक भिक्षु होने के नाते शायद मेरा ऐसे विषय पर टिप्पणी करना अनुचित हो। लेकिन मैं मानता हूँ कि परिवार नियोजन आवश्यक है। अवश्य ही मेरा सुझाव यह नहीं है कि हमारे बच्चे नहीं हों। मानवीय जीवन मूल्यवान संसाधन है एवं विवाहित दम्पत्तियों को सन्तान होनी चाहिए, अगर कोई अपरिहार्य कारण न हो तो। यह विचार कि सिर्फ इस कारण से संतान उत्पन्न नहीं करना चाहिए ताकि हम बिना उत्तरदायित्व के जीवन का ज्यादा आनंद उठा सकें, मैं सोचता हूँ कि यह बिलकुल गलत है। लेकिन इसके साथ हर दम्पत्ति का उत्तरदायित्व है जनसंख्या वृद्धि का प्राकृतिक पर्यावरण पर होने वाले असर के बारे में सोचना। यह आधुनिक तकनीक के कारण और भी महत्वपूर्ण है।

[29]

सौभाग्य से अधिकाधिक लोग विश्व को एक निवास योग्य स्वस्थ स्थान सुनिश्चित करने के लिए नैतिक अनुशासन का महत्व समझने लगे हैं। इस कारण से मैं आशान्वित हूँ। दुर्घटना टाली जा सकती है। कुछ समय पूर्व तक बहुत कम लोग मनुष्य की गतिविधियों के पर्यावरण पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव के बारे में सोचते थे । लेकिन आज कुछ राजनीतिक दल भी हैं, जिनका मुख्य लक्ष्य यही है। और भी, यह तथ्य आशा का स्रोत है कि जो वायु हम स्वांस में लेते हैं, जो जल पीते हैं, जंगल और समुद्र जो लाखों जीवों का पोषण करते हैं एवं वातावरण का व्यवहार जो ऋतु चक्र को संचालित करता है, ये सभी राष्ट्रीय सीमा से बंधे नहीं हैं । इसका अर्थ है कि कोई भी देश चाहे वह कितना भी धनी एवं शक्तिशाली हो अथवा निर्धन एवं दुर्बल हो, इस विषय पर कार्य नहीं करने का खतरा नहीं मोल ले सकता है ।

[30]

जहाँ तक एक व्यक्ति का प्रश्न है, हमारे प्राकृतिक पर्यावरण की अवहेलना से जो समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं वह बड़ी चेतावनी है कि हम सभी को इसके समाधान में साझेदारी लेने की

आवश्यकता है, भले ही एक व्यक्ति के व्यवहार का शायद बड़ा परिणाम न हो। लेकिन लाखों लोगों के सम्मिलित दुर्व्यवहार का परिणाम निश्चित रूप से होता है । इसका अर्थ है कि औद्योगिक रूप से विकसित राष्ट्रों के निवासियों को अपनी जीवन शैली बदलने के लिए गंभीरता से सोचना चाहिए। पुनः, यह मुख्य रूप से नैतिकता का प्रश्न नहीं है। यह तथ्य कि बाकी दुनिया के लोगों को अपने जीवन स्तर में सुधार लाने का बराबर अधिकार समृद्ध लोगों के अपनी जीवन शैली को बरकरार रखने से कुछ हद तक ज्यादा महत्वपूर्ण है। अगर इस लक्ष्य को प्राप्त करना है, बिना प्राकृतिक संसाधनों के स्थाई विनाश के--जिससे सुख पर बहुत सारा नकारात्मक प्रभाव होता है--तो समृद्ध राष्ट्रों को अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। जीवन शैली के स्तर में अंतहीन सुधार के लिए इस धरती को एवं उसके कारण मानवता को बड़ी कीमत चुकानी होगी।

[31]

Politics and Economics

हम सभी एक दयालु एवं सुखी दुनिया के सपने देखते हैं । लेकिन अगर इस सपने को सच करना है तो हमें निश्चित करना होगा कि हमारी हर गतिविधि करुणा से प्रेरित है। यह विशेष रूप से हमारी राजनीति एवं आर्थिक नीतियों के लिए सच है। चूँकि विश्व के शायद आधे लोगों के पास पर्याप्त भोजन, निवास, चिकित्सा की सुविधा एवं शिक्षा जैसे मूलभूत साधनों का अभाव है, हमें यह प्रश्न करना चाहिए कि क्या हम लोग सबसे समीचीन समाधान का उपयोग रहे हैं। मेरे विचार में नहीं। अगर ऐसा प्रतीत होता है कि हम अभी जो कर रहे हैं उससे आज से पचास साल के पश्चात् दरिद्रता का उन्मूलन निश्चित हो, तो शायद वर्तमान आर्थिक वितरण की विषमता को न्यायसंगत माना जा सकता है। लेकिन इसके विपरीत अगर वर्तमान प्रवृत्ति चलती रही तो यह निश्चित है कि गरीब लोग और गरीब होते जायेंगे । हमारी मूलभूत न्याय एवं निष्पक्षता की भावना ही सुझाव देती है कि हमें हाथ पर हाथ धर कर बैठ कर ऐसा नहीं होने देना चाहिए।

[32]

अवश्य ही मुझे अर्थशास्त्र के बारे में ज्यादा नहीं पता है। लेकिन मैं इस निष्कर्ष से नहीं बच सकता हूँ कि समृद्ध देशों का धनार्जन निर्धन देशों का शोषण करके ही संभव हुआ है, विशेष करके अन्तर्राष्ट्रीय ऋण के द्वारा। ऐसा कह कर मैं यह तर्क नहीं दे रहा हूँ कि पिछड़े हुए राष्ट्रों के अपनी समस्याओं के उत्तरदायित्व के हिस्सेदार / धनी राष्ट्र नहीं है और न ही हम सारी सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का दोष राजनेताओं एवं सरकारी अधिकारियों पर ही थोप सकते हैं । मैं अस्वीकार नहीं करता हूँ कि विश्व के सबसे विकसित लोकतंत्र में भी यह काफी आम बात है कि राजनेता अवास्तविक आश्वासन देते हैं और बढ़ा चढ़ा कर कहते हैं कि चुनाव के बाद वह क्या करेंगे। लेकिन ऐसे लोग आकाश से नहीं टपकते हैं।

अगर यह सत्य हो कि किसी राष्ट्र के नेता भ्रष्ट हैं तो हम देख सकते हैं कि उस समाज में भी नैतिकता का अधिपतन हुआ है एवं उस समाज के नागरिक भी नैतिक जीवन नहीं जीते हैं। ऐसे दृष्टान्तों से यह पूर्णतया उचित नहीं जान पड़ता कि नागरिक मात्र अपने नेताओं की आलोचना करें। दूसरी ओर अगर लोग कुशल मूल्य वाले हों और वे अपने जीवन में दूसरों के हित को ध्यान में रख कर नैतिकता का अनुशीलन करते हों तो ऐसे समाज के द्वारा उत्पन्न अधिकारी भी स्वाभाविक रूप से इन्हीं मूल्यों का आदर करेंगे। इसीलिए हम हर व्यक्ति की ऐसे समाज के निर्माण में भूमिका है, जो सहानुभूति के आधार पर दूसरों के कल्याण एवं आदर को प्राथमिकता देता है।

[33]

जहाँ तक आर्थिक नीति के प्रयोग का प्रश्न है, वही विचार यहाँ पर भी लागू होते हैं जो मनुष्य की हर गतिविधि पर होते हैं। वैश्विक उत्तरदायित्व की भावना महत्वपूर्ण है। मैं मानता हूँ कि आध्यात्मिक मूल्यों के आर्थिक मामलों में प्रयोग का व्यावहारिक सुझाव देना मुझे थोड़ा कठिन लगता है। यह इसीलिए है, क्योंकि आर्थिक मामलों में प्रतिद्वंदिता की अहम भूमिका है। इस कारण से सहानुभूति एवं आर्थिक लाभ के बीच का सम्बन्ध निश्चय ही अत्यंत नाजुक होता है। फिर भी मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि रचनात्मक प्रतिद्वंदिता क्यों संभव नहीं है। इसमें महत्वपूर्ण है उनलोगों की मंशा जो इसमें कार्यरत हैं। जब हमारी मंशा दूसरों से फायदा उठाने की या उनका शोषण करने की हो तो स्पष्टतः परिणाम अच्छा नहीं होगा। लेकिन अगर प्रतिद्वंद्विता उदारता की भावना एवं अच्छे उद्देश्य से है तो परिणाम भले ही हारने वाले के लिए कुछ दुखदायी हो, उतना विनाशकारी नहीं होगा।

[34]

पुनः कोई यह आपत्ति उठा सकता है कि वाणिज्य की वास्तिवकता ऐसी है कि वास्तव में हम यह आशा नहीं कर सकते कि व्यवसाय में लोगों के हित को आर्थिक लाभ की अपेक्षा ज्यादा महत्व दें। लेकिन हमें यह स्मरण रहना चाहिए कि जो उद्योगों एवम् व्यवसाय के प्रबन्धक होते हैं, वे भी मनुष्य हैं। सबसे कठोर ह्रदय वाले भी यह मानेंगे कि बिना परिणाम की चिंता के आर्थिक लाभ का प्रयास उचित नहीं है। अगर ऐसा होता तो फिर अवैध नशीली दवाइयों को बेचने का व्यापार अनुचित नहीं होता। इस प्रकार से पुनः हम सभी को अपने करूणामय स्वभाव के विकास की जरूरत है। हम जितना इस पर स्वयं कार्य करेंगे हमारे वाणिज्यिक उद्यम उतना ही इस मानवता के मूलभूत मूल्यों को दर्शायेंगे।

[35]

इसके विपरीत अगर हम खुद इन मूल्यों की अवहेलना करेंगे तो यह अनिवार्य है कि उद्यमों के लोग भी इनकी अवहेलना करेंगे । यह कोरे आदर्श की बात नहीं है। इतिहास

साक्षी है कि मानव समाज में कई महत्वपूर्ण विकास करुणा का परिणाम हैं। अगर हम मानव जाति के क्रमिक विकास को देखते हैं तो हम समाज में सुधार लाने के लिए दूरदर्शिता की आवश्यकता को समझते हैं। हमारे आदर्श हमारे विकास का यंत्र होते हैं। इनकी अवहेलना करना और सिर्फ ऐसा कहना कि हमें राजनीति में "यथार्थवादी" होना चाहिए, नितांत गलत है। दास प्रथा के उन्मूलन को उदाहरण स्वरुप देखिये ।

[36]

हमारी आर्थिक असमानता की समस्या सारी मानवजाति के सामने बड़ी चुनौती है । फिर भी हम जैसे नयी सहस्राब्दि में प्रवेश करते हैं, मेरा विश्वास हैं कि हमें आशान्वित होने के कई कारण हैं। बीसवीं सदी के शुरू एवं मध्य वाले वर्षों में ऐसी सामान्य धारणा थी कि राजनैतिक एवं आर्थिक शक्तियां सत्य से ज्यादा प्रभावशाली हैं। मुझे प्रतीत होता है कि उस धारणा में बदलाव आ रहा है। सबसे समृद्ध एवं शक्तिशाली राष्ट्र भी यह मानने लगे हैं कि मूलभूत मानवता के मूल्यों की अवहेलना करना अनुचित है। इस सोच को भी लोग स्वीकार करने लगें हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नैतिकता का अपना स्थान है। चाहे ये अर्थवान कार्य में कार्यान्वित हों या नहीं, मुझे खुशी है कि कम से कम सुलह, अहिंसा एवं करुणा जैसे शब्दों का प्रयोग राजनेताओं के बीच प्रचलित हो रहा है। यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। फिर, मेरे स्वयं के अनुभव में मैं देखता हूँ कि जब मैं विदेश भ्रमण पर निकलता हूँ, मुझे अक्सर बड़ी संख्या में--अक्सर हजारों की तादाद में--दर्शकों को शांति एवं करुणा पर वक्तव्य देने के लिए कहा जाता है। मुझे संदेह है कि चालीस या पचास साल पहले ऐसे विषय इतनी बड़ी संख्या में लोगों को आकर्षित कर पाते होंगे । ऐसे परिवर्तन दर्शाते हैं कि हम मानव न्याय एवं सत्य जैसे मूल्यों को ज्यादा महत्व दे रहे हैं।

[37]

मुझे इससे भी अच्छा लगता है कि विश्व की आर्थिक स्थिति जैसे-जैसे सुधरती है, उतना ही वह स्पष्ट रूप से और परस्पर-आश्रित होती जाती है। इसके परिणाम में हर राष्ट्र कम या ज्यादा अन्य राष्ट्रों पर निर्भर करता है। पर्यावरण की तरह, आधुनिक अर्थ व्यवस्था को भी सीमा का बोध नहीं है । यहाँ तक कि जो राष्ट्र खुले रूप से एक दूसरे के शत्रु हैं, उन्हें भी विश्व के संसाधनों के प्रयोग में मिलजुल कर कार्य करना होता है। अक्सर, उदाहरण के लिए वे एक ही नदी पर निर्भर करते हैं एवं हमारे आर्थिक सम्बन्ध जितने ही परस्पर-आश्रित होते हैं, उतने ही हमारे राजनैतिक सम्बन्धों को परस्पर-आश्रित होने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार से हमने यूरोपियन संगठन को एक छोटे से व्यावसायिक झुण्ड से बढ़ कर एक संयुक्त राज्य बनते हुए देखा है, जिसके सदस्यों की संख्या दस से ज्यादा हो गयी है। भले ही आज कम विकसित राष्ट्र गुटों की रचना सारे विश्व में देख रहे हैं। तीन नाम लिया जाये तो वह हैं: दक्षिण एशियाई राष्ट्रगण, अफ्रीकी एकता का संगठन, तथा पेट्रोलियम

निर्यात करने वाले राष्ट्रों का संगठन। इसमें से हर एक मनुष्य के मिलजुल कर, सर्वजन हिताय कार्य करने की आकांक्षा का साक्षी है एवं मानवता के क्रमिक विकास की प्रणाली को दर्शाता है। हम लोग छोटी-छोटी जनजाति इकाइयों से आरम्भ कर, नगर-राज्य के स्तम्भों को पार कर, राष्ट्रों के निर्माण से आगे बढ़कर, अब अरबों लोगों के संगठन भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं जनजातियों के भेद को पार कर रहे हैं। मेरा विश्वास है कि यह प्रवाह जारी रहेगा एवं यूंही जारी रहना चाहिए।

[38]

हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि ऐसे राजनैतिक एवं आर्थिक गठबंधनों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ जनजाति, भाषा, धर्म एवं संस्कृति के आधार पर एकत्रित होने की प्रवृति भी बढ़ी है जो अक्सर हिंसा के सन्दर्भ में राष्ट्रीय एकता के कमजोर होने के कारण होती है। हम इस विरोधाभास को कैसे समझ सकते हैं? एक तरफ राष्ट्रों के सहयोग हेतु संगठन की रचना है तो दूसरी तरफ स्थानीयकरण होने की प्रवृत्ति है । वास्तव में इन दोनों के बीच विरोध होने की अनिवार्यता नहीं है। हम फिर भी ऐसे वाणिज्य, सामाजिक नीति एवं सुरक्षा व्यवस्था पर आधारित क्षेत्रीय समूहों की कल्पना कर सकते हैं, जिनमें विभिन्न प्रजातीय, सांस्कृतिक, धार्मिक गुट सम्मिलित हों। वहां एक ऐसी कानूनी पद्धति हो सकती है, जो सभी सदस्य समुदायों के मूलभूत मानवाधिकारों की सुरक्षा करे, जो उन्हें अपनी वांछित जीवन शैली के अनुसार जीने के लिए मुक्त रखे।साथ ही साथ यह भी महत्वपूर्ण है कि ऐसे संगठनों की स्थापना स्वेच्छा से हो, इस बात की समझ के आधार पर कि सहयोग सबके हित में है। उन्हें थोपा नहीं जाना चाहिए। वास्तव में नई सहस्त्राब्दि की चुनौती है ऐसे उपाय ढूंढना, जिनसे अंतर्राष्ट्रीय या उससे भी उत्तम अंतरसामुदायिक सहयोग प्राप्त हो, जिसमें मानवीय विविधता को स्वीकार किया जाये एवं सबके अधिकारों का आदर हो।

[39]

मनन योग्य प्रश्न

१. करुणा के बिना ज्ञान हमें शांति क्यों नहीं लाता है?

२. युवाओं को नैतिकता सिखाने के लेखक का दृष्टिकोण क्या है? इस संबंध में परिवार की भूमिका क्या है?

३. नैतिक आचरण और हमारे प्राकृतिक पर्यावरण के स्वास्थ्य के बीच संबंध क्या है?

४. सार्वभौमिक ज़िम्मेदारी के भाव से हम आर्थिक सफलता की खोज कैसे संतुलित कर सकते हैं?

अध्याय १४ - शांति एवं निःशस्त्रीकरण

माओ ने एक बार कहा था कि सत्ता बंदूक की नाल से निकलती है। अवश्य ही हिंसा के माध्यम से कुछ अल्पकालिक लक्ष्य प्राप्त किए जा सकते हैं, लेकिन हिंसा से दीर्घकालीन उद्देश्य नहीं मिल सकते। अगर हम इतिहास को देखते हैं तो हम पाते हैं कि समय के साथ क्रूरता एवं अत्याचार पर शांति, न्याय एवं स्वतंत्रता के लिए मानवीय प्रेम की ही विजय होती है। यही कारण है कि मैं अहिंसा में इतना विश्वास रखता हूँ। हिंसा से और हिंसा होती है एवं हिंसा का एक ही परिणाम है - दुःख। वैचारिक दृष्टि से एक ऐसी स्थिति की कल्पना करना संभव है कि बड़े पैमाने वाले युद्ध को रोकने का एकमात्र उपाय आरम्भिक स्तर पर हथियारों के प्रयोग करना हो। लेकिन इस तर्क के साथ समस्या यह है कि हिंसा के परिणाम के बारे में भविष्यवाणी करना असंभव नहीं तो कम से कम कठिन अवश्य है। शुरुआत में इस उपाय के न्यायसंगत होने के बारे में हम निश्चित नहीं हो सकते हैं। हिंसा का परिणाम तभी स्पष्ट होता है जब हिंसा हो चुकी हो और उसका परिणाम सामने हो। केवल इतना निश्चित है कि जब हिंसा होती है तब उसका परिणाम सदैव और अपरिहार्य रूप से दुःख ही होता है।

[1]

कुछ लोग कहेंगे कि भले ही दलाई लामा की अहिंसा के लिए समर्पण प्रशंसनीय है, लेकिन वास्तव में वह व्यावहारिक नहीं है। सत्य तो यह है कि यह बहुत भोली सोच है कि मनुष्य द्वारा निर्मित समस्याएँ जिनसे हिंसा होती है उनका समाधान कभी भी युद्ध से हो सकता है।

[2]

मेरी धारणा है कि बहुत से लोगों की यह सोच कि अहिंसा का मार्ग अव्यावहारिक है, वह इसलिये है क्योंकि उन्हें इसका कार्यान्वयन इतना दुष्कर लगता है कि हम हतोत्साहित हो जाते हैं। फिर भी जबकि पहले हम शान्ति की कामना सिर्फ अपने देश के लिए करते थे या सिर्फ अपने आसपास के लिए, आज हम विश्व शांति की बात करते हैं। यही उचित है। मानीवय अन्योन्याश्रय की वास्तिवकता आज अत्यंत स्पष्ट है कि वही शांति की बात अर्थपूर्ण है जो विश्व शांति के लेकर करें। उदाहरण के लिए देखिये कि 1980 के दौरान लगभग पूरे विश्व में जो राजनैतिक क्रांति की लहर दौड़ी उसकी प्रमुख विशिष्टता अहिंसा थी।

[3]

आधुनिक युग में सबसे आशा दिलाने वाली बातों में एक है अंतर्राष्ट्रीय शान्ति का अभियान। अगर हम शीत युद्ध के अंतिम दिनों की तुलना में आज इसके बारे में कम सुनते

हैं तो यह शायद इसीलिए है कि इसके आदर्श चेतना की मुख्यधारा में समा चुके हैं। लेकिन जब मैं शांति की बात करता हूँ तो मेरा तात्पर्य क्या है? क्या ऐसा मानने का पर्याप्त आधार नहीं है कि युद्ध एक स्वाभाविक घटना है जो मनुष्य के क्रिया कलाप का हिस्सा है, भले ही पश्चाताप के योग्य हो? यहाँ हमें युद्ध के अभाव मात्र वाली शांति एवं ऐसी शांति के बीच भेद करना चाहिए जिससे अमन का माहौल जो गंभीर सुरक्षा के भाव पर आधारित है, जो आपसी समझ, दूसरों के मत के प्रति सहिष्णुता एवं उनके अधिकार के प्रति सम्मान से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए शांति वह नहीं है जो हमने यूरोप में साढ़े चार दशक के शीत युद्ध के दौरान देखी। यह शांति नहीं, शांति के निकट मात्र थी। जिस विचार पर यह शांति आधारित थी, वह भय एवं संदेह था एवं एक अजीब सी एक दूसरे के निश्चित विनाश की संभावना वाली मानसिकता (जिसे संक्षेप में पागलपन कह सकते हैं) थी। वास्तव में शीत युद्ध जिस "शांति" से परिलक्षित था वह इतनी नाजुक, इतनी अस्थायी थी कि किसी भी पक्ष की ओर से किसी गंभीर गलतफहमी का विनाशकारी परिणाम हुआ होता। पीछे मुड़ कर देखने से, खास कर इस जानकारी के साथ कि कई स्थानों पर हथियारों का प्रबंधन इतना अस्तव्यस्त था कि मैं सोचता हूँ यह चमत्कार है कि हम इस विनाश से किसी तरह बच गए!

[4]

शांति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका अस्तित्व हमारे अस्तित्व से स्वतंत्र है। न ही युद्ध का अस्तित्व। यह सच है कि कुछ व्यक्तियों--राजनेता, नीति निर्माता, सेना के अधिकारी--का शांति बनाये रखने में विशेष रूप से बड़ा उत्तरदायित्व है। लेकिन ये लोग शून्य से नहीं आते हैं। यह अंतरिक्ष में पैदा एवं बड़े नहीं हुए होते हैं। हमारी तरह इनका भी पालन-पोषण माँ के दूध एवं स्नेह से हुआ होता है। यह हमारी मानव जाति के परिवार के ही सदस्य हैं एवं उनके चरित्र का निर्माण उस समाज में हुआ है, जिसमें हमारा योगदान है। इस तरह विश्व की शांति व्यक्ति के हृदय की शांति पर निर्भर करती है। व्यक्ति के ह्रदय की शांति नैतिकता के अभ्यास करने वाले लोगों पर निर्भर करती है, जो नकारात्मक मनोभावनाओं एवं विचारों की प्रतिक्रियाओं पर अंकुश लगाने के अभ्यास से एवं मूलभूत आध्यात्मिक गुणों को विकसित करने से होता है।

[5]

अगर वास्तविक शांति आपसी दुश्मनी पर आधारित नाजुक संतुलन से अधिक एक गहन चीज़ है, और अगर अंततः यह आतंरिक मतभेदों के समाधान पर निर्भर करती है तो फिर हम युद्ध के बारे में क्या कह सकते हैं? यद्यपि यह एक विडंबना है कि ज्यादातर सैनिक अभियान का लक्ष्य शांति होता है, मानव समुदाय में युद्ध एक आग की तरह है, जिसमें मनुष्य का उपयोग इंधन की तरह किया जाता है। युद्ध भी आग की तरह प्रबलता से

फैलता होता है। उदाहरण के लिए अगर हम हाल के पूर्व यूगोस्लाविया की लड़ाई को देखते हैं तो हम पाते हैं कि जो लड़ाई पहले एक छोटे से इलाके में सीमित थी, वह बढ़ कर पूरे क्षेत्र को निगल गई। ऐसे ही जब हम एक लड़ाई को देखते हैं हम पाते हैं कि जब किसी सेनापति को किसी स्थान पर दुर्बलता का आभास होता है वह इसका समाधान करने के लिए और सैनिकों को भेजता है, जो बिलकुल जिन्दा लोगों की आग में आहुति देने के समान है। लेकिन आदतन हम इसे अनदेखा कर देते हैं । हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि युद्ध का स्वभाव ही भयानक क्रूरता एवं दु:ख है।

[6]

दुर्भाग्यपूर्ण सत्य यह है कि हमारे अंदर युद्ध को एक उत्तेजक, यहाँ तक कि आकर्षक घटना समझने की प्रवृत्ति डाल दी गयी है। अच्छी पोशाक (जो बच्चों को मनमोहक लगती है) में सैनिक बाजे के साथ सैनिकों की परेड आकर्षक लगती है। हम हत्या को बहुत बुरा समझते हैं लेकिन युद्ध का अपराध से कोई सम्बन्ध नहीं देखते हैं। उसके विपरीत युद्ध को लोगों की वीरता एवं योग्यता दिखाने का अवसर समझते हैं। हम युद्ध के वीरों की ऐसे प्रशंसा करते हैं कि जितने ज्यादा लोगों की वे हत्या करें उतनी ज्यादा उनकी वीरता है एवं हम युद्ध के शस्त्रों की ऐसे बात करते हैं जैसे वह तकनीक की अनोखी मिसाल हों, यह भूल कर कि उनका मुख्य उपयोग उन जीवित मनुष्यों की हत्या एवं उन्हें घायल करने का है जिनमें आपके मित्र, मेरे मित्र, हमारी माता, हमारे पिता, हमारी बहन एवं भाई, आप और मैं, शामिल हैं ।

[7]

उससे भी बुरा यह है कि आधुनिक युद्ध में जो लोगों में लड़ाई को उकसाने की भूमिका निभाते हैं वे अक्सर युद्ध स्थल से बहुत दूर रहते हैं। युद्ध का असैनिक लोगों पर परिणाम और भी बदतर होता है। आज के युद्ध में जो सबसे ज्यादा दु:ख भोगते हैं वे हैं असैनिक निर्दोष लोग--न सिर्फ सैनिकों के परिवार के लोग बल्कि ज्यादा संख्या में ऐसे निर्दोष लोग जिनका युद्ध से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। युद्ध के समाप्त होने के बाद भी, उन्हें बची हुई सुरंगों एवं रासायनिक शस्त्रों के प्रयोग के कारण जहरीले वातावरण से उत्पन्न भयंकर दु:ख झेलते रहना पड़ता है--आर्थिक संकट की बात ही क्या। उसका परिणाम है कि अधिकाधिक संख्या में स्त्रियां, बच्चे एवं बूढ़े लोग युद्ध के मुख्य शिकार हो रहे हैं।

[8]

आधुनिक युद्ध प्रणाली की वास्तविकता है कि यह लगभग एक कम्प्यूटर के खेल जैसी बन गयी है। हथियारों की क्षमता में लगातार इतना विकास हो रहा है कि यह आम आदमी की कल्पना से परे हो गया है। हथियारों की बढ़ती जटिलता सामान्य आदमी की कल्पना की

क्षमता से परे हो गयी है। विनाशकारी क्षमता इतनी आश्चर्यजनक हो गयी है कि युद्ध के पक्ष में जो भी तर्क हैं वे निश्चय ही उसके विरोधी तर्कों से हीन हैं। हमें शायद पुरानी युद्ध पद्धति की स्मृतियों के लिए क्षमा किया जा सकता है। कम से कम लोग एक दूसरे से आमने सामने लड़ते थे। जो कष्ट होता था वह सबके सामने प्रगट था एवं उन दिनों यह आम बात थी कि राजा लोग स्वयं अपनी सेना का युद्ध स्थल पर नेतृत्व करते थे। अगर राजा का वध हो गया तो अक्सर वहीँ युद्ध समाप्त हो जाता था। लेकिन जैसे जैसे यन्त्रों का आधुनिकीकरण हुआ है सेना के अधिकारी युद्ध स्थल से बहुत दूर पीछे रह गए। आज वे हजारों मील दूर भूमिगत बंकरों में छिपे हो सकते हैं। इस दृश्य को देख कर मुझे लगता है कि ऐसी "बुद्धिमान" गोली का आविष्कार हो जो युद्ध को आरम्भ करने का निर्णय लेने वालों को ढूंढ निकाले। मुझे यह अपेक्षाकृत ज्यादा न्यायसंगत लगेगा एवं इस कारण से मैं ऐसे शस्त्र का स्वागत करूंगा जो निर्दोष लोगों को छोड़, युद्ध छेड़ने का निर्णय करने वालों का सफाया कर दे ।

[9]

उनकी विनाशकारी क्षमता को देखते हुए हमें स्वीकार करना चाहिए कि शस्त्रों का अस्तित्व केवल मानवों की हत्या करने के लिए है, चाहे उनका प्रयोजन सुरक्षा के लिए हो या आक्रमण के लिए। ताकि हम यह न मान लें कि शांति सिर्फ निःशस्त्रीकरण पर ही निर्भर करती है, हमें यह भी अवश्य स्वीकार करना होगा कि शस्त्र अपने आप कुछ नहीं कर सकते हैं। यद्यपि उन्हें हत्या के लिए बनाया गया है, जब तक वे गोदाम में पड़े हुये रहते हैं वे कोई हानि नहीं कर सकते हैं। मिसाइल को आक्रमण के मार्ग पर भेजने के लिए किसी को बटन दबाना पड़ता है, गोली चलाने के लिए किसी को बन्दूक की घोड़ी दबानी पड़ती है। कोई "दुष्ट" शक्ति यह नहीं कर सकती है। केवल मनुष्य ही कर सकते हैं। इसलिए वास्तविक शांति के लिए आवश्यक है कि हम अपने द्वारा निर्मित सैनिक अधिष्ठानों का विघटन आरम्भ करें। हम शान्ति का पूर्ण रूप से तब तक आनंद नहीं ले सकते हैं, जब तक यह संभव रहेगा कि कुछ व्यक्ति सैनिक शक्ति का प्रयोग कर अपनी मर्जी को दूसरों पर थोप सकें। उसी प्रकार से हम कभी भी वास्तविक शांति का आनन्द उठाने की आशा नहीं कर सकेंगे, जब तक तानाशाही सरकारें राज्य करती रहेंगी जो शस्त्रधारी सैनिकों की मदद से स्थापित रहती हैं, जो अपने शासकों के आदेश पर अन्याय करने से झिझकते नहीं हैं। अन्याय सत्य का हनन करता है एवं सत्य के बिना स्थायी शांति असंभव है। क्यों नहीं? इसलिए कि जब सत्य हमारे साथ रहता है, स्पष्टवादिता रहती है जिससे आत्मविश्वास आता है। इसके विपरीत जब सच्चाई का अभाव होता है तो अपने संकीर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग बल प्रयोग ही बचता है। लेकिन जब सत्य के विरोध में निर्णय लिया

जाता है तो लोगों को यह अनुचित लगता है, चाहे वह विजेता हों या पराजित। यही नकारात्मक भावना बल प्रयोग से स्थापित शांति का हनन करती है।

[10]

इसमें हम सभी की भूमिका है। जब व्यक्तिगत रूप से हम स्वयं का आन्तरिक निःशस्त्रीकरण करते हैं--नकारात्मक विचार एवं भावनाओं का प्रतिकार कर एवं सकारात्मक गुणों का विकास कर--तब हम बाहरी निःशस्त्रीकरण की परिस्थिति का निर्माण करते हैं। वास्तव में विश्व में सच्ची स्थायी शांति तभी सम्भव होगी, जब हममें से हर एक व्यक्ति आंतरिक प्रयास करेगा। क्लेशात्मक भावनाएं लड़ाई में ऑक्सीजन का कार्य करती हैं। इसलिए यह अनिवार्य है कि हम दूसरों के प्रति संवेदनशील रहें, सबके सुख पर समान अधिकार का सम्मान करें, कुछ ऐसा न करें जिससे दूसरों का कष्ट बढ़े। इसमें हमारी सहायता के लिए यह उपयुक्त है कि हम इस बात पर विचार करें कि युद्ध से पीड़ित लोग इसे कैसे अनुभव करते हैं। मेरे स्वयं के लिए युद्ध की भयावहता का जीवंत अनुभव करने के लिये मुझे कुछ वर्ष पूर्व की अपनी हिरोशिमा की यात्रा मात्र के बारे में सोचना पड़ता है। वहाँ के संग्रहालय में मैंने एक घड़ी देखी जो ठीक विस्फोट के समय रुक गयी थी। मैंने एक सिलाई की सुई का एक छोटा पैकेट भी देखा जिसकी सारी सुइयां पिघल कर एक साथ जम गयीं थीं।

[11]

स्पष्ट है कि हम सैनिक अधिष्ठानों का विघटन रातों-रात नहीं कर सकते हैं। चाहे कितना भी अच्छा लगे इक तरफा निःशस्त्रीकरण काफी कठिन है। अगर हम ऐसे समाज की कल्पना करना चाहें, जिसमें सशस्त्र लड़ाई पुरानी बात हो जाये तो हमारा लक्ष्य होना चाहिए, सैनिक उपकरणों का उन्मूलन। स्पष्ट है कि सारे शस्त्रों को समाप्त करने की आशा करना अव्यावहारिक होगा। आखिरकार मुक्कों का भी हथियार के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे उपद्रवी एवं कट्टरपंथी लोग हमेशा होंगे जो दूसरों के लिए परेशानी खड़ी करेंगे। इसीलिए हमें मानना पड़ेगा कि जब तक मनुष्य रहेंगे तब तक उपद्रवी लोगों से निबटने के लिए उपायों की आवश्यकता रहेगी।

[12]

इसलिए हमें आवश्यकता है कि हम उन लक्ष्यों को स्थापित करें जिनकी सहायता से हम धीरे धीरे नि:शस्त्रीकरण कर सकते हैं। और फिर हमें ऐसा करने के लिए राजनैतिक संकल्प को विकसित करना होगा। जहाँ तक सैन्य अधिष्ठानों के विघटन के लिए व्यावहारिक उपायों का प्रश्न है, हमें समझना पड़ेगा कि यह तभी हो पायेगा जब यह निशस्त्रीकरण बड़े पैमाने की प्रतिबद्धता के सन्दर्भ में हो। सिर्फ सामूहिक विनाशकारी

हथियारों को समाप्त करने के बारे में सोचना ही पर्याप्त नहीं है। हमें ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना होगा जो इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होंगी। उसके लिए एक प्रत्यक्ष उपाय होगा उन प्रस्तावों पर कार्य करना जो इस उद्धेश्य के लिये पहले से अस्तित्व में हैं। यहाँ मैं कई वर्षों के उन प्रयासों के बारे में सोच रहा हूँ, जो पहले कुछ प्रकार के शस्त्रों की बढ़ोतरी पर नियंत्रण करने के लिए और उनमें से कुछ प्रकार को समाप्त करने के लिए प्रयास किये गए थे। 1970 एवं 1980 के दौरान हमने पूर्वी एवं पश्चिमी खेमों के बीच विनाशकारी शस्त्रों को कम करने के लिए वार्तालाप होते हुए देखा। कई वर्षों तक परमाणु शस्त्र की बढ़ोतरी को रोकने के लिए संधि स्थापित रही है जिसके प्रति कई राष्ट्र प्रतिबद्ध रहे हैं और परमाणु शस्त्र के प्रसार के बावजूद उनपर विश्वव्यापी रोक का विचार अभी भी जीवित है। बारूदी सुरंगों पर रोक लगाने के लिए उत्साहवर्धक प्रगति हुई है। इस ग्रन्थ को लिखने के समय बड़ी संख्या में राष्ट्रों ने उनके उपयोग के विरोध में ज्ञापनपत्र पर हस्ताक्षर किये हैं। इसलिए भले ही यह सत्य है कि इन प्रयासों के लक्ष्य में पूर्ण सफलता नहीं मिली है, लेकिन इन प्रयासों का अस्तित्व मात्र उन विनाशकारी उपायों के प्रति नापसंदगी को अवश्य दर्शाता है। ये सब मुनष्यों की शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करने की अभिलाषा के साक्षी हैं एवं ये एक उपयोगी शुरुआत प्रदान करते हैं, जिससे आगे प्रगति की जा सकती है।

[13]

विश्वव्यापी सैनिक अधिष्ठानों के विघटन के लक्ष्य के प्रति आगे बढ़ने का एक और तरीका है शस्त्र बनाने वाले कारखानों को धीरे-धीरे खत्म करना। कुछ लोगों को यह हास्यास्पद एवं अव्यावहारिक विचार लगेगा। उन्हें आपत्ति होगी कि जब तक सभी राष्ट्र इसके लिए एक साथ तैयार नहीं होंगे, ऐसा करना पागलपन होगा। और वे कहेंगे कि ऐसा कभी नहीं हो सकता है। इसके अलावा उनका तर्क होगा कि यहाँ आर्थिक विषय पर भी विचार करना होगा। लेकिन जब हम इस विषय को सशत्र युद्ध के पीड़ितों की दृष्टि से देखते हैं तो ऐसी आपत्तियों का किसी न किसी प्रकार से विरोध करने के अपने उत्तरदायित्व को नकारना काफी कठिन हो जाता है। वास्तव में मैं जब भी शस्त्रों के कारखानों के बारे में एवं उनके कारण हुए दु:ख के बारे में सोचता हूँ, मुझे पुनः अपनी आउसवित्ज के नाजी मृत्यु शिविर की यात्रा का स्मरण होता है। जब मैं उन भट्ठियों को देख रहा था जिसमें मेरे जैसे हजारों लोगों को जलाया गया था--जिनमें से कई को जिन्दा जलाया गया था जो मनुष्य एक माचिस की तीली की आग बर्दाश्त नहीं कर सकते हैं-- तब मुझे इस बात से सबसे बड़ा झटका लगा कि इन उपकरणों का निर्माण योग्य मेधावी कारीगरों की समझ बूझ एवं ध्यान से किया गया था। मैं उन इंजीनियरों (सभी बुद्धिमान लोग) की कल्पना कर रहा था जो ड्राइंग बोर्ड पर भट्ठी के कक्षों के आकार की योजना बना रहे थे एवं चिमनियों की लम्बाई

एवं चौड़ाई का हिसाब कर रहे थे। मैं उन कारीगरों के बारे में सोच रहा था, जिन्होंने इस प्रारूप को फलीभूत किया था। मुझे संदेह नहीं है कि जैसा अच्छे कारीगरों को होता है, उन्हें अपने कार्य पर गर्व रहा होगा। तभी मुझे आभास हुआ कि आधुनिक शस्त्रों का खाका बनाने वाले एवं उनका उत्पादन करने वाले लोगों के साथ ठीक यही बात है। वे भी अपने ही जैसे हजारों, अगर लाखों नहीं, मनुष्यों के विनाश करने के साधनों के निर्माण में लगे हुए हैं। क्या यह चिंतनीय विचार नहीं है?

[14]

इस विचार को ध्यान में रखकर उन सभी व्यक्तियों के लिए जो शस्त्रों के उत्पादन में कार्यरत हैं, उत्तम होगा कि वे यह सोचें कि क्या ऐसे कार्य में शामिल होने को उचित ठहरा सकते हैं। इसमे भी संदेह नहीं है कि अगर उन्होंने इसका एकपक्षीय रूप से त्याग कर दिया तो उन्हें कष्ट होगा। इसमें संदेह नहीं है कि अगर शस्त्रों के कारखाने बंद हो जायें तो शस्त्रों का उत्पादन करने वाले राष्ट्रों की आर्थिक क्षति होगी। लेकिन क्या यह इतनी कीमत चुकाने योग्य नहीं है? इसके अतिरिक्त हमारे पास उद्योग की दुनिया में ऐसे कई उदाहरण हैं, जिन्होंने शस्त्र से किसी और वस्तु के उत्पादन में परिवर्तित किया। हमारे सामने विश्व के एक ऐसे राष्ट्र का भी उदाहरण है जिसने असैनिकीकरण किया, जिसका हम उसके पड़ोसी राष्ट्रों के संदर्भ में विचार कर सकते हैं। अगर कोस्टारीका का उदाहरण लें, जिसने सन 1949 में शस्त्रों का त्याग किया था, कम से कम हम पाते हैं कि उस राष्ट्र के लोगों के जीवन स्तर में, स्वास्थ्य में एवं शिक्षा में अद्भुत विकास हुआ है।

[15]

जहाँ तक इस तर्क का सवाल है कि शायद यह व्यावहारिक हो कि हम शस्त्रों के निर्यात को सिर्फ उन्हीं देशों तक सीमित रखें जो विश्वसनीय एवं सुरक्षित हैं, मेरा सुझाव है कि यह अत्यंत अदूरदर्शी सोच का सूचक है। इतिहास ने बार बार प्रमाणित कर दिया है कि यह सोच गलत है। हम सभी अरब की खाड़ी की हाल की घटनाओं से परिचित हैं। 1970 के दौरान पश्चिमी मित्र राष्ट्रों ने ईरान के शाह को काफी शस्त्र दिए, ताकि वह रूस से सम्भावित खतरों का प्रतिकार कर सके। लेकिन जब राजनैतिक वातावरण उल्टा हो गया तो ईरान को पश्चिमी राष्ट्रों के हित के खतरे के रूप में देखा जाने लगा। इसीलिए पश्चिमी मित्र राष्ट्रों ने ईरान के विरोध में इराक को शस्त्र देना आरम्भ कर दिया। लेकिन जब परिस्थिति फिर बदल गई, तब उन्हीं शस्त्रों का पश्चिमी राष्ट्रों के खाड़ी के दूसरे मित्र (कुवैत) के विरोध में इस्तेमाल होने लगा। इस के फलस्वरूप शस्त्र बेचने वाले राष्ट्रों को स्वयं अपने ही ग्राहक के विरुद्ध युद्ध में जाना पड़ा। अन्य शब्दों में शस्त्रों के "सुरक्षित" ग्राहक जैसा कुछ नहीं है।

[16]

मैं यह अस्वीकार नहीं कर सकता हूँ कि मेरी विश्वव्यापी निःशस्त्रीकरण एवं सैनिक प्रतिष्ठानों की समाप्ति की आशा आदर्शवादी है। लेकिन साथ में आशान्वित रहने के स्पष्ट कारण हैं। विडम्बना यह है कि जहाँ तक आणविक एवं अन्य विनाशकारी शस्त्रों का प्रश्न है, उस परिस्थिति की कल्पना करना अत्यन्त कठिन है जहाँ वे उपयोगी हो सकते हैं। कोई महाआणविक युद्ध का खतरा नहीं मोल लेना चाहता है। इन शस्त्रों का निर्माण पैसों की भी स्पष्ट रूप से बर्बादी है। उनका उत्पादन खर्चीला होता है, उनके उपयोग की कल्पना करना कठिन है एवं उन्हें जमा कर के रखने के अलावा और कोई चारा नहीं है, जो बहुत महँगा है। अंततः वह पूर्णतया व्यर्थ और पैसों की बर्बादी के अलावा और कुछ नहीं हैं।

[17]

आशांवित रहने का एक और कारण है राष्ट्रों के बीच बढ़ती हुई आर्थिक साझेदारी। इससे एक ऐसा वातावरण तैयार हो रहा है जिसमें सिर्फ राष्ट्रीय स्वार्थ एवं फायदों की मनोवृत्ति लगातार कम होती जा रही है। इसके परिणाम स्वरूप मतभेद के समाधान के लिए युद्ध की कल्पना करना बिलकुल दकियानूसी लगने लगा है। जहाँ मनुष्य होंगे, वहां झगड़े निश्चय ही होंगे, यह एक सत्य है। समय समय पर मतभेद अवश्य ही होंगे। लेकिन वर्तमान में आणविक शस्त्रों के व्यापक विस्तार एवं बढ़ोतरी को देखते हुए यह महत्वपूर्ण है कि हम उनके समाधान के लिए हिंसा को छोड़ कर कोई और रास्ता निकालें। इसका तात्पर्य है सुलह एवं समझौते की भावना से वार्तालाप करना। यह मेरे लिए मात्र एक महत्वाकांक्षा नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय सामूहिकीकरण की ओर दुनिया भर में रुझान, जिसका यूरोपीय संगठन शायद सबसे ज्वलंत उदाहरण है, दर्शाता है कि ऐसे समय की कल्पना करना संभव है जब हर राष्ट्र के लिए निजी सैनिक बल तैयार रखना अनावश्यक एवं फिजूलखर्ची जैसा लगेगा। सिर्फ अपने राष्ट्र की सीमा की सुरक्षा के लिए चिंता करने की बजाय क्षेत्रीय सुरक्षा के बारे में सोचना उचित लगने लगेगा। वास्तव में ऐसा होना प्रारम्भ हो चुका है। यद्यपि अभी अस्थायी है, यूरोप की मिलजुली सुरक्षा की योजना की जा रही है जिसमें फ्रांस एवं जर्मनी के संयुक्त सैनिक बल की स्थापना हुए दस वर्ष से अधिक हो चुके हैं। इसीलिए यह संभव लगता है कि कम से कम जहाँ तक यूरोप के समुदाय का प्रश्न है जो सिर्फ एक आर्थिक संगठन के रूप में शुरू हुआ था, वह अंततः क्षेत्रीय सुरक्षा का भार भी संभालेगा एवं अगर यह यूरोप में संभव है तो फिर आशान्वित होने का कारण है कि अन्य अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठन--जो कई हैं--एक दिन ऐसे ही बन सकते हैं। क्यों नहीं?

[18]

मेरी धारणा में ऐसे क्षेत्रीय सुरक्षा के संगठनों की शुरूआत हमारी वर्तमान की राष्ट्र-राज्य की चिंता में बिना फसे धीरे धीरे अपेक्षाकृत कम संकीर्ण समुदायों को स्वीकार करने में बड़ा योगदान करेगी। यह एक ऐसे भविष्य का मार्ग प्रशस्त भी कर सकती है, जहाँ विश्व में कोई

सैनिक बल नहीं हो। अवश्य ही ऐसी प्रगति कई स्तरों में होगी। राष्ट्रीय सैनिक बलों का क्षेत्रीय सुरक्षा बल में परिवर्तन हो जायेगा। धीरे धीरे उन्हें भंग कर उनके स्थान पर एक अंतर्राष्ट्रीय पुलिस बल की स्थापना हो सकेगी। इस बल का मुख्य कार्य होगा दुनिया भर में मानवाधिकारों की देख रेख करना, न्याय की रक्षा करना, समुदाय की सुरक्षा करना। लेकिन इस बल की अनेक जिम्मेदारियां होंगी, जिनमें से एक होगी हिंसा द्वारा सत्ता छीनने के प्रयास को रोकना। जहाँ तक इसके संचालन का प्रश्न है, अवश्य ही पहले विधि विधानों की चिंता करनी होगी। लेकिन मैं सोचता हूँ कि इनके पास मदद की गुहार पहले उन समुदायों से आएगी जो अपने पड़ोसी के आक्रमण अथवा अपने ही सदस्यों द्वारा गठित हिंसात्मक राजनैतिक पार्टी के खतरे झेल रहे हों अथवा इस बल का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय समुदाय कर सकता है, जब किसी संघर्ष का परिणाम, जैसे धर्म को लेकर या किसी अन्य विचारधारा को लेकर, हिंसात्मक रूप ले रहा हो।

[19]

हालाँकि यह सत्य है कि हम इस आदर्श स्थिति से बहुत दूर हैं, लेकिन अब यह इतना असंभव नहीं लगता है जैसा कि आरम्भ में लगा था। शायद वर्तमान की पीढ़ी अपने जीवन में यह नहीं देख पाये। लेकिन हमलोग संयुक्त राष्ट्र संघ के सैनिकों के शान्ति रक्षक के रूप में प्रयोग देख चुके हैं। हम इस सहमति की शुरुआत भी देखने लगे हैं कि कुछ परिस्थितियों में शायद उनके बीच बचाव के लिए भी प्रयोग करना उचित हो।

[20]

इस प्रयास को आगे ले जाने के लिए, मैं जिसे शांति क्षेत्र कहता हूँ, उसकी स्थापना के बारे में विचार कर सकते हैं। यहाँ मैं कल्पना कर रहा हूँ एक या अनेक राष्ट्रों के एक या अनेक हिस्सों में असैनिकीकरण कर शांतिपूर्ण शरण स्थलों को स्थापित करने की खासकर ऐसे स्थानों पर जो योजना के लिए महत्वपूर्ण हों। ये सारे शरण स्थल सम्पूर्ण विश्व के लिए आशा की किरण का कार्य करेंगे। मैं मानता हूँ कि यह विचार काफी महत्वाकांक्षी है लेकिन ऐसा नहीं है कि यह पहले कभी नहीं हुआ है। हमारे पास पहले से ही ऐसा अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त असैनिकीकृत क्षेत्र अन्टार्कटिका में है। मैं ऐसा और होने के लिए सुझाव देने वाला अकेला व्यक्ति नहीं हूँ। रूस के पूर्व राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचोव ने चीन-रूस के सीमा क्षेत्र को ऐसा दर्जा देने का प्रस्ताव दिया था। मैंने स्वयं यही विचार तिब्बत के लिए प्रस्तुत किया ।

[21]

अवश्य ही ऐसा विचार करना कठिन नहीं है कि तिब्बत के अलावा भी विश्व में ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ पड़ोसी समुदाय असैनिकीकरण से बहुत लाभान्वित होंगे। जैसे भारत एवं चीन--दोनों

ही अभी भी अपेक्षाकृत गरीब देश हैं—अपनी सालाना आय का बहुत बड़ा हिस्सा बचायेंगे अगर तिब्बत अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त शांति क्षेत्र घोषित हो जाये। ऐसे ही कई महादेशों में कई क्षेत्र हैं, जिन पर से व्यर्थ का भयंकर आर्थिक बोझ हल्का हो जायेगा अगर उन्हें अपनी सीमा पर बड़ी संख्या में सैनिकों को जमा रखने की आवश्यकता नहीं होगी। उदाहरण के लिए मैंने अक्सर सोचा है कि जर्मनी यूरोप के केन्द्र में होने की वजह से एवं बीसवीं सदी के दो विश्व यद्धों को ध्यान में रखते हुए जर्मनी शांति क्षेत्र का सबसे उचित स्थान है।

[22]

इन सब में मैं मानता हूँ कि संयुक्त राष्ट्र संघ की महत्वपूर्ण भूमिका है। इसीलिए नहीं कि विश्व के मामलों के लिए समर्पित सिर्फ यही एक संस्था है। जिनेवा सम्मेलन की सन्धियों पर अमल करने के लिए स्थापित, हेग में स्थित अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, अंतर्राष्ट्रीय वित्त कोष, विश्व बैंक जैसी संस्थाओं की स्थापना के पीछे का विचार अत्यंत प्रशंसनीय है। वर्तमान में एवं संभावित भविष्य में संयुक्त राष्ट्र संघ ही एक मात्र ऐसी वैश्विक संस्था है, जो अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की तरफ से नीति पर प्रभाव डालने और नीति निधारण, दोनों में सक्षम है। अवश्य ही कई लोग इसकी आलोचना करते हैं कि यह अशक्त है, एवं यह सत्य भी है कि, जैसा हमने अक्सर देखा है कि इसके प्रस्तावों की अवहेलना की जाती है, त्याग दिया जाता है एवं उन्हें भुला दिया जाता है। फिर भी इन खामियों के बावजूद, मैं न ही सिर्फ उन सिद्धांतों का जिन पर इस संस्था की स्थापना हुई थी बल्कि इसकी 1945 में स्थापना के पश्चात् की बड़ी बड़ी उपलब्धियों का भी बड़ा सम्मान करता हूँ। हमें सिर्फ स्वयं से यह पूछने की आवश्यकता है कि इसने संभावित दुर्घटना वाली परिस्थितियों को शांत कर बहुत से जीवनों की रक्षा की है या नहीं, यह देखने के लिए कि यह अक्षम नौकरशाही,जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, से कहीं ज्यादा है। हमें इसके अधीनस्थ संस्थाएँ जैसे यूनिसेफ, शरणार्थी के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का कमीशन, यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन के महत्वपूर्ण कार्यों को भी देखना चाहिए। यह सत्य है भले ही उनके एवं अन्य वैश्विक संस्थाओं के कुछ कार्यक्रम एवं नीतियों में कुछ कमी हो, या वे मार्ग भ्रष्ट हों।

[23]

मेरा मानना है कि अगर संयुक्त राष्ट्र संघ की क्षमता का पूरा विकास हो पाये तो यह वैसा यान बन सकता है जो सम्पूर्ण मानवता की कामनाओं को पूरा करने की ओर ले जा सकेगा। अभी तक यह इस कार्य को अच्छी तरह से नहीं कर सका है, लेकिन अभी हम वैश्विक चेतना के उद्भव का केवल आरम्भ देख रहे हैं (जो संचार की क्रान्ति के कारण सम्भव हुआ है) एवं बड़ी कठिनाइयों के बावजूद हमने विश्व के कई स्थलों में इसे कार्यान्वित होते हुए देखा है भले ही इस समय एक या दो ही राष्ट्र इस कार्य के अग्रणी हैं। इनके द्वारा संयुक्त राष्ट्र से प्रदत्त निर्देशों की वैधता पाने का प्रयास करना इस अनुभव को दर्शाता है कि

सामूहिक समर्थन द्वारा निर्णय लेने की न्यायोचित आवश्यक है। मेरी धारणा है कि क्रमशः यह एक एकल, परस्पर-आधारित मानव समुदाय की बढ़ती हुई भावना का लक्षण है।

[24]

संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशेष दुर्बलता यह है कि यद्यपि यह व्यक्तिगत राष्ट्रों को मंच देता है, लेकिन एक व्यक्तिगत नागरिक की आवाज़ यहाँ नहीं सुनी जाती है। इसके पास कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है, जिससे यहाँ नागरिक अपने प्रशासन के विरोध में आवाज सुना सकें। उससे भी बड़ी समस्या है वीटो का प्रावधान, जिसका दुरूपयोग कर शक्तिशाली राष्ट्र इसके कार्यक्रम में हस्तक्षेप कर सकते हैं। ये बड़ी खामियां हैं।

[25]

जहाँ तक व्यक्तिगत नागरिकों की आवाज नहीं होने की समस्या है, यहां हमें कुछ मौलिक उपाय के लिए विचार करना होगा। जैसे प्रजातंत्र की प्रबलता के लिए न्यायपालिका, कार्यकारिणी संस्था एवं विधानमंडल तीन स्वतंत्र स्तम्भों की आवश्यकता है, वैसे ही हमें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक सच्ची स्वतंत्र संस्था की आवश्यकता है। लेकिन शायद संयुक्त राष्ट्र संघ पूर्ण रूप से इस भूमिका के योग्य नहीं है। ब्राजील में आयोजित पृथ्वी शिखर सम्मेलन जैसी अंतर्राष्ट्रीय सभा में मैंने देखा है कि राष्ट्रों के प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति अनिवार्य रूप से अपने राष्ट्र के हित को सर्वोपरि प्रस्तुत करते थे, जबकि जिन प्रश्नों की चर्चा की जा रही थी वे राष्ट्रों की सीमा के परे थे। इसके विपरीत जब अंतर्राष्ट्रीय सभा में लोग व्यक्तिगत रूप से भाग लेते है--यहाँ पर मैं अंतर्राष्ट्रीय परमाणु बम विरोधी चिकित्सक संघ अथवा नोबेल पुरुस्कार विजेता लोगों का शस्त्र व्यापार को रोकने का संघ, जिसका मैं भी एक सदस्य हूँ, के बारे में सोच रहा हूँ --ऐसे संघों का ज्यादा ध्यान पूरी मानवता पर ही होता है। उनकी मनोभावना वास्तविक रूप से सार्वभौमिक एवं उदार होती है। इससे मुझे ऐसा लगता है कि एक ऐसी संस्था की स्थापना उचित होगी जिसका मुख्य उद्देश्य होगा विश्व के लोगों के व्यापारों को नैतिकता के दृष्टिकोण से निगरानी करें। इस संस्था का नाम "मानव विश्व परिषद्" रक्खा जा सकता है (यद्यपि निःसंदेह ही इससे और भी अच्छा नाम ढूंढा जा सकता है)। जैसी कि मैं कल्पना करता हूँ - इस संगठन में सदस्य के रूप में विभिन्न पृष्ठभूमि के लोगों को लाया जायेगा। वह कलाकार, बैंक के अधिकारी, पर्यावरण विशेषज्ञ, अधिवक्ता, कवि, शिक्षक, धार्मिक चिंतकों एवं लेखकों के साथ आम स्त्री पुरुष भी होंगे, जिन्हें ईमानदारी तथा नैतिक एवं मानवीय मूल्यों के लिए समर्पित होने की प्रतिष्ठा प्राप्त हो। क्योंकि इस संस्था की कोई राजनैतिक शक्ति नहीं होगी इसकी घोषणाएँ कानूनी तौर पर बाध्यकारी नहीं होंगी। लेकिन, इसके स्वतंत्र स्वरुप के कारण--इसका सम्बन्ध किसी राष्ट्र अथवा राष्ट्र संघ तथा विचारधारा से न होने के कारण --इसकी गतिविधि विश्व के विवेक का प्रतिनिधित्व करेगी। इस प्रकार से इस संगठन के पास नैतिक प्रभुत्व रहेगा।

[26]

अवश्य ही बहुत से लोग इस प्रस्ताव एवं मेरे सैनिक प्रतिष्ठानों को समाप्त करने, निःशस्त्रीकरण एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ में सुधार लाने के सुझाव को असंभव एवं शायद अत्यधिक सरल कह कर आलोचना करेंगे अथवा वे कहेंगे कि "वास्तविक दुनिया" में यह सब नहीं हो सकता है। लेकिन जहां लोग अनुचित घटनाओं की अक्सर आलोचना कर एवं दूसरों पर दोषार्पण कर संतुष्ट रहते हैं, निश्चय ही हमें कम से कम रचनात्मक विचार प्रस्तुत करने का प्रयास करना चाहिए। एक बात निश्चित है - सच्चाई, न्याय, शान्ति एवं स्वतंत्रता, इन सब के लिए मनुष्यों की आकांक्षा एक बेहतर, अधिक करुणामय विश्व के निर्माण को अवश्य संभावित करती है। इसके लिए उसमें क्षमता है। अगर शिक्षा एवं संचार माध्यम के उचित उपयोग से हम यहाँ दिए गए सुझावों को नैतिक सिद्धांतो के कार्यान्वयन के साथ जोड़ सकें तो हमारे पास ऐसा एक वातावरण तैयार हो जायेगा जहाँ निःशस्त्रीकरण एवं सैनिक प्रतिष्ठानों को समाप्त करने का प्रस्ताव निर्विवाद होगा। इसके आधार पर हम विश्व में स्थायी शांति के उपायों का निर्माण कर चुके होंगे।

[27]

मनन योग्य प्रश्न

१. व्यक्तिगत नागरिक वैश्विक शांति और निरस्त्रीकरण को कैसे प्रभावित कर सकते हैं?

२. आधुनिक युद्ध की विशेषताएं क्या हैं जो अतीत में युद्धों की तुलना में अधिक हानिकारक बनाती हैं?

अध्याय १५ - आधुनिक समाज में धर्म की भूमिका

यह मानव इतिहास का एक दुखद सत्य है कि धर्म, संघर्ष का एक प्रमुख स्रोत रहा है। आज भी धार्मिक कट्टरता एवं घृणा के कारण लोग मारेजाते हैं, समुदायों का विनाश होता है एवं समाज अस्थिर होते हैं । अत: यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कई लोग समाज में धर्म के किरदार की भूमिका पर प्रश्न उठाते हैं। फिर भी जब हम सावधानी से विचार करते हैं तो पाते हैं कि धर्म के नाम पर संघर्ष प्रमुखत: दो कारणों से होता है। सामान्यतया इनमें पहला कारण धार्मिक विविधता - एक धर्म का दूसरे धर्म सेसैद्धांतिक, सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक भेद है।फिर दूसरा कारण राजनैतिक, आर्थिक एवं अन्य कारकों के संदर्भ में मुख्यत: संस्थागत स्तर पर उत्पन्न होने वाली मतभिन्नता है। पहले प्रकार के संघर्ष को सुलझाने का प्रमुख उपाय अन्तरधार्मिक सद्भाव है। दूसरे प्रकार के धार्मिक संघर्ष के समाधान के लिए कोई और उपाय ढूँढना आवश्यक है। धर्म निरपेक्षता को बढ़ावा देना एवं धार्मिक परम्पराओं को राज्य शासन के संस्थानों से अलग रखना कुछ हद तक संस्थागत धार्मिक संघर्षको कम कर सकते हैं। लेकिन इस अध्याय में हमारा प्रयोजन अन्तरधार्मिक सद्भाव के विकास पर विचार करना ही है।

[1]

यह उस विचार का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, जिसे मैं वैश्विक उत्तरदायित्व कहता हूँ। लेकिन इस विषय काविस्तृत परीक्षण करने से पूर्व शायद इस प्रश्न पर विचार करना उचित हो कि क्या आधुनिक विश्व में धर्म वास्तव में प्रासंगिक है? बहुत से लोग तर्क करते हैं कि यह नहीं है। अब मेरा विचार है कि धार्मिक विश्वास अपने आप में, नैतिक आचरण और/या सुख की पूर्व शर्त नहीं है। मैंने यह भी सुझाव दिया है कि कोई व्यक्ति भले ही धर्म का अभ्यास करे या ना करे किन्तु स्नेह एवं करुणा, धैर्य, सहनशीलता, क्षमाशीलता, विनम्रता आदि आध्यात्मिक गुण अनिवार्य हैं।इसके साथ ही मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि धर्म के अभ्यास के संदर्भ में इनका विकास सबसे आसानी एवं सफलतापूर्वक हो सकता है। मेरा यह भी विश्वास है कि जब कोई व्यक्ति निष्ठा पूर्वक धर्म का अभ्यास करता है तो उस व्यक्ति को बहुत लाभ होता है। जिन व्यक्तियों ने समझ पर आधारित एवं दिनचर्या में समाहित, दृढ़ विश्वास स्थापित किये हैं , ऐसे लोग कठिनाइयों का सामना करने में उन लोगों से ज्यादा सक्षम होते हैं जो किसी धर्म का अभ्यास नहीं करते हैं।इसलिए यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि धर्म में मानवता की भलाई करने की अपार क्षमता है। यदि उचित ढंग से इसका पालन किया जाए तो मानव के सुख की स्थापना के लिए यह अत्यंत प्रभावी साधन है। विशेष कर यह लोगों में एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व की भावना एवं स्वयं में नैतिक अनुशासन के विकास को प्रोत्साहित करने में मुख्य भूमिका निभा सकता है ।

[2]

इसी आधार पर मैं विश्वास करता हूँ कि धर्म आज भी प्रासंगिक है। लेकिन इस घटना के बारे में भी सोचिये। कुछ वर्ष पहले यूरोप की आल्प्स की बर्फ से पाषाण युग के एक व्यक्ति का शरीर निकाला गया था।पांच हजार साल से ज्यादा प्राचीन होने के बावजूद यह शरीर पूर्णरूप से संरक्षित था। यहाँ तक कि उसके कपड़े भी ज्यों के त्यों थे। मुझे याद है कि उस समय मैं सोचने लगा था कि अगर इस व्यक्ति को आज के समय में लाना संभव होता तो हम पाते कि हममें और इस व्यक्ति में काफी समानता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि हम पाते कि इस व्यक्ति को भी अपने परिवार, निकट के लोगों एवं अपने स्वास्थ्य इत्यादि के लिए चिंता थी। संस्कृति एवं हाव-भाव के अन्तर के पश्चात भी हम एक दूसरे की भावनाओं को समझ पाते एवं इस बात को मानने का कोई आधार नहीं होता कि उस व्यक्ति की सुख पाने की एवं दु:ख से दूर रहने की कामना हम से कहीं कम है। नैतिक आचरण के अभ्यास एवं स्नेह एवं करुणा के विकास द्वारा दु:ख के निवारण पर धर्म के जोर देने के कारण अगर धर्म के उस व्यक्ति के काल में प्रासंगिक होने की कल्पना की जा सकती है तो फिर यह देखना कठिन है कि आज ऐसा ही क्यों नहीं हो। मैं मानता हूँ कि पहले के दिनों में आधुनिक साधनों के अभाव में मनुष्य के दु:ख के निवारण हेतु धर्म का मूल्य ज्यादा स्पष्ट था।लेकिन चूंकि हम मानव अभी भी कष्ट में हैं, यद्यपि आज हम इसे मानसिक एवं भावनात्मक क्लेश के रूप मेंज्यादा अनुभव करते हैं, एवं चूंकि मोक्ष प्राप्ति में मदद के साथ धर्म का उद्देश्य कष्ट निवारण में हमारी मदद करना भी है, इसलिए निश्चय ही धर्म आज भी प्रासंगिक है।

[3]

फिर हम ऐसी सद्भावना कैसे पैदा कर सकते हैं, जो धर्मों के बीच झगड़ों को रोक सके? जैसा कि नकारात्मक विचारों एवं मनोभावों जनित प्रतिक्रिया पर नियंत्रण के अनुशासन एवं आध्यात्मिक गुणों के विकास में लगे हुए व्यक्तियों के लिए सच है, समझदारी का विकास इस समस्या का मुख्य समाधान है।हमें उन कारकों को पहचानना चाहिए जो इसमें बाधा डालते हैं। फिर हमें अवश्य उनसे मुक्ति पाने का मार्ग ढूँढना चाहिए।

[4]

शायद धर्मों के बीच सद्भाव के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है दूसरों की धर्म परंपरा के मूल्य के लिए आदर का अभाव होना।आज की तुलना में हाल तक भिन्न संस्कृतियों, यहाँ तक कि समुदायों के बीच संचार धीमा अथवा पूर्णरूप से अस्तित्वहीन था। इस कारण से अन्य धर्म परम्पराओं के लिए सहानुभूति की ज्यादा जरूरत नहीं थी, सिर्फ उन स्थितियों को छोड़कर जहाँ भिन्न धर्मो के लोग आस पास निवास करते थे। लेकिन अब ऐसे रवैये से काम नहीं चलने वाला है। आज के उत्तरोत्तर हो रहे जटिल एवं अन्योन्याश्रित विश्व में हम अन्य

संस्कृतियों , जनजातियोंएवं निश्चय ही अन्य धर्मों के अस्तित्व को स्वीकारने के लिए विवश हैं। हम इसे पसंद करें या नहीं हममें से ज्यादातर लोग इस विविधता को प्रतिदिन अनुभव करते हैं।

[5]

मैं मानता हूँकि अज्ञानता पर काबू पाने एवं समझने का सबसे उत्तम उपाय है अन्य धर्म परम्पराओं के सदस्यों के साथ संवाद। मैं ऐसा कई प्रकार से होते हुए देख सकता हूँ। विद्वानों के बीच वाद-विवाद जिसमें भिन्न धर्मों के बीच संसृति अर्थात समानता एवं भेद को समझने का प्रयास किया जाता है और उनकी प्रशंसा की जाती है, बहुमूल्य होता है। दूसरे स्तर पर इससे मदद मिलती है जब भिन्न धर्मों के सामान्य लेकिन साधक लोगों के बीच भेंट होती है, जिसमें सभी अपने अनुभवों को बताते हैं। यह शायद दूसरों की शिक्षा का आदर करने का सबसे उत्तम उपाय है। मेरे स्वयं के उदाहरण में मेरा सिस्टेरियन प्रथा के कैथोलिक भिक्षु स्वर्गीय थॉमस मर्टन से मिलना मेरे लिए बहुत प्रेरणाप्रद था।उन मुलाकातोंने मेरे अंदर ईसाई धर्म की शिक्षा के लिए गहरा सम्मान विकसित करने में सहायता की ।मुझे यह भी लगता है कि विभिन्न धार्मिक नेताओं के साथ किसी एक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्रार्थना करने के लिए मिलना भी काफी सहायकहोता है। सन 1986 में असीसी, इटली में विश्व के प्रमुख धर्मों के प्रतिनिधियों का शांति के लिए प्रार्थना करने के लिए इकट्ठा होना मेरी धारणा में कई धर्मों के अनुयायियों के लिए बहुत लाभकारी था क्योंकि यह सभा इसमें भाग लेने वाले सभी लोगों की एकता एवं शांति के लिए निष्ठा का प्रतीक थी।

[6]

अंत में मैं अनुभव करता हूँ कि विविध धर्मों के सदस्योंका एक साथ तीर्थयात्रा पर जाना भी सहायक हो सकता है। सन 1993 में इसी भावना से प्रेरित हो कर मैं लॉर्ड्सऔर उसके पश्चातजेरुसलम गया था जो विश्व के तीन महान धर्मों का पवित्र स्थल है। मैं भारत एवं विदेश मेंहिन्दू, मुसलमान, जैन एवं सिक्खों के मंदिर भी जाचुका हूँ।हाल में एक ईसाई एवं बौद्ध प्रथा में समाधी पर गोष्ठी के बाद मैंने दोनों ही प्रथाओंके साधकों के साथ बोधगया, भारत स्थित बोधि-वृक्ष के नीचे प्रार्थना, समाधी एवंसंवाद के लिए ऐतिहासिक तीर्थयात्रा में हिस्सा लिया। यह बौद्ध धर्म के सबसे महत्वपूर्ण स्थलों में से एक है।

[7]

जब ऐसे विनिमय होते हैं, तब एक परम्परा के अनुयायी पाएंगे कि उनके धर्म की ही तरह अन्य परम्पराओं की सीख भी उनके अनुयायियों के लिए आध्यात्मिक प्रेरणा एवं नैतिक मार्गदर्शन की स्रोत होती है। यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि मत-सम्बन्धीएवं अन्य भिन्नताओं के बावजूद विश्व के सभी प्रधान धर्मों की चिंता व्यक्ति को अच्छा मनुष्य बनाने से है। सभीस्नेह एवं करुणा, धैर्य, सहनशीलता,क्षमाशीलता, विनम्रता इत्यादि पर जोर देते हैं, तथा

सभी धर्म व्यक्तियों के इन गुणों को विकसित करने में सहायक होने में सक्षम हैं। इसके अतिरिक्त, हर धर्म के संस्थापकों द्वारा दिए उदाहरणों ने स्पष्ट रूप से दिखाया है कि इन गुणों को विकसित करना दूसरों की सुख प्राप्ति में मदद करने की चिंता को दर्शाता है। जहाँ तक उनके स्वयं के जीवन का प्रश्न था, सभी ने काफी सादगी के साथ जीवन यापन किया। नैतिक अनुशासन एवं दूसरों के लिए स्नेह उनके जीवन की विशिष्टता थी। वेसम्राटों एवं राजाओं की तरह विलासिता से नहीं रहे। बल्कि उन्होंने स्वेच्छा से कष्ट को स्वीकार किया--बिना कठिनाइयों की परवाह किये--ताकि पूरी मानवता का लाभ हो सके। उनकी शिक्षा में सभी ने स्नेह एवं करुणा को विकसित करने पर एवं स्वार्थ पर आधारित कामनाओं को त्याग करने पर विशेष रूप से जोर दिया। उन सभी ने हमें ह्रदय एवं चित्त का रूपान्तर करने का आह्वान किया। वास्तव में भले हममें श्रद्धा हो या नहीं, वे सभी बड़ी प्रशंसा के अधिकारी हैं।

[8]

अन्य धर्मों के अनुयायियों के साथ संवाद में लगने के समय ही हमें अवश्य ही अपने धर्म की शिक्षा कोअपने दैनिक जीवन में कार्यान्वित करना चाहिए। एक बार जब हमने स्नेह एवं करुणा का एवं नैतिक अनुशासन का लाभ अपने जीवन में अनुभव कर लिया तो फिर हम अन्य परम्पराओं की शिक्षा का मूल्यआसानी से देखेंगे। लेकिन इसके लिए यह समझना आवश्यक है कि धर्म का अभ्यास करने का अर्थ सिर्फ "मैं भक्ति करता हूँ" अथवा, जैसा कि बौद्ध धर्म में करते हैं, "मैं शरण लेता हूँ" कहने से कहीं ज्यादा है।मंदिर अथवा तीर्थस्थान या गिरिजाघर जाने से आगे भी बहुत कुछ है और धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने का यह थोड़ा ही लाभ है अगर वह चित्त में प्रवेश नहीं करें और केवल बुद्धि के स्तर पर ही रह जाये।सिर्फ विश्वास पर भरोसा रखने से बिना समझ एवं बिना कार्यान्वन के धर्म का सीमित मूल्य है। मैं अक्सर तिब्बत के लोगों को कहता हूँ कि हाथ में माला लेकर घूमने से कोई सच्चा धार्मिक साधकनहीं बन जाता है। हम सच्चे मन से स्वयं में आध्यात्मिक रूपांतर लाने का जो प्रयास करते हैं वही हमें धर्म का सच्चा साधक बनाता है।

[9]

हम सच्ची साधना की अधिभावी महत्ता को तब देखने लगते हैं जब हम समझते हैं कि अज्ञानता के साथ व्यक्ति के उनकी धारणाओं के साथ अस्वस्थ सम्बन्ध धर्मों के बीच मतभेद के बड़े कारक हैं। धर्म की शिक्षा का अपने जीवन में उपयोग करना तो दूर , हममें उनके आत्म केंद्रित अहंकार को बढ़ावा देने की प्रवृति रहती है। हम अपने धर्म के साथ ऐसे बर्ताव करते हैं जैसे हमें उन पर स्वामित्व हो या ऐसे लेबल की तरह जो हमें दूसरों से भिन्नदिखाता हो। अवश्य ही ऐसा करना गलत है। धर्म के अमृत का अपने ह्रदय एवं मन के

दूषित तत्वों को शुद्ध करने के लिए प्रयोग करने के बजाय, ऐसे नकारात्मक तत्वों के प्रयोग की सोच से संकट यह होता है कि हम धर्म के अमृत को जहरीला कर बैठते हैं।

[10]

लेकिन हमें अवश्य ही यह स्वीकारना होगा कि यह एक दूसरी समस्या की ओर इशारा करता है जो हर धर्म में उपलक्षित है। मैं हर धर्म के एकमात्र "सच्चे" धर्म होने के दावे की तरफ इशारा कर रहा हूँ।हम इस समस्या का हलकैसे कर सकते हैं?यह सच है कि एक व्यक्ति के दृष्टिकोण से अपने धर्म के लिए एकाग्र निष्ठा आवश्यक है। यह भी सच है कि यह व्यक्ति के अपने धर्म की सच्चाई के एकमात्र मार्गदर्शक होने में गहरी आस्था पर निर्भर करता है।लेकिन उसी समय हमें इस आस्था का ऐसे ही अनेक दावों की सच्चाई के साथ सामंजस्य स्थापित करने का कोई उपाय ढूंढना पड़ेगा। व्यावहारिक रूप से इसका अर्थ है कि हर साधक अपने धर्म के लिए हार्दिक रूप से निष्ठा रखते हुए, अन्य धर्मों की शिक्षा को कम से कम वैध मान सकने का उपाय ढूंढे। जहाँ तक किसी विशेषधर्म के तत्वमीमांसा के दावे की वैधता का प्रश्न है, वह अवश्य ही उस धर्म प्रथा का अंदरुनी मामला है ।

[11]

मेरे स्वयं के उदाहरण में मेरा पक्का विश्वास है कि बौद्ध धर्म मुझे वह सबसे प्रभावी ढांचा देता है जिसके दायरे में मैं अपने स्नेह एवं करुणा के विकास के द्वारा अपनी आध्यात्मिक प्रगति के प्रयास को रख सकूँ। उसी समय मुझेयह भी स्वीकार करना है कि यद्यपि बौद्ध धर्म मेरे लिए सबसे उत्तम मार्ग है क्योंकि यह मेरे चरित्र, मेरे स्वभाव , मेरी कामनाओं एवं मेरी सांस्कृतिक पृष्टभूमि के अनुकूल है। ईसाइयों के लिए ईसाई धर्म ऐसे ही होगा।उनके लिए ईसाई धर्म सबसे उत्तम मार्ग है। इसीलिए अपनी आस्था के आधार पर मैं यह नहीं कह सकता कि बौद्ध मार्ग सबके लिए सर्वोत्तम है।

[12]

मैं अक्सर धर्म को मानव आत्मा की औषधि की तरह समझता हूँ। किसी औषधि के प्रभाव के बारे में निर्णय वास्तव में उसकी विशेष परिस्थिति में किसी विशेष व्यक्ति के लिए उपयोगिता से अलग नहीं लिया जा सकता है।हमारा यह कहना अनुचित होगा कि यह औषधि काफी अच्छी है क्योंकि इसमें सभी अवयव हैं। अगर आप मरीज और उस पर औषधि के प्रभाव को समीकरण से बाहर निकाल लें तो इसे समझना कठिन है। उचित तो यह कहना होगा किअमुक मरीज की अमुक बीमारी में यह औषधि सबसे कारगर है।इसी प्रकार से धर्म परम्पराओं के साथ हम कह सकते हैं कि यह विशेष धर्म इस विशेष व्यक्ति के लिए सबसे उपयुक्त है।लेकिन इस तर्क से कोई सहायता नहीं मिलती है कि दर्शन अथवा तत्वमीमांसा के आधार पर एक धर्म दूसरे से बेहतर है। महत्पूर्ण बात है धर्म का एक व्यक्ति विशेष के लिए उपयुक्तहोना।

[13]

हर धर्म के "एक सत्य एवं एक धर्म" के दावे एवं धर्मों की विविधता की सच्चाई के बीच के अंतर्विरोध को सुलझाने का मेरा तरीका इसलिए यह है कि हम समझें कि एक व्यक्ति के लिए वास्तव में एक ही सत्य एवं एक ही धर्म हो सकता है।लेकिन संपूर्ण मानवता के दृष्टिकोण से हमें अवश्य ही "अनेक सत्य एवं अनेक धर्म" वाली धारणा को स्वीकारना होगा।चिकित्सा विज्ञान के उदाहरण को जारी रखते हुए हम कह सकते हैं कि एक विशेष रोगी के लिए उपयुक्त दवाई वास्तव में केवल एक दवाई ही है। लेकिन स्पष्ट है कि इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य मरीजों के लिए अन्य दवाइयाँ उपयुक्त नहीं हो सकती।

[14]

मेरे सोचने के तरीके में धर्म परम्पराओं के बीच की विविधिता बहुत लाभकारी है। इसलिए इसकी कोई जरूरत नहीं है कि हम यह कहने के उपाय ढूंढें कि अंततः सभी धर्म एक ही हैं। उनमें समानता यह है कि वह सभी नैतिक अनुशासनों के प्रसंग में स्नेह एवं करुणा की परम आवश्यकता पर जोर देते हैं।लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सभी वास्तव में एक ही हैं। उदाहरण के लिए, संसार की सृष्टि एवं अनादि की परस्पर-विरोधी धारणाओं को लेकर बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म एवं हिन्दू धर्म के व्यक्त समझ का अर्थ है कि अंत में जब तत्वमीमांसा की बात आती है कई व्यावहारिक समानताओं के निश्चित रूप से विद्यमान होने के बावजूद हमें अलग हो जाना पड़ता है। ये प्रतिवाद धर्म के अभ्यास के आरम्भिक चरणों में शायद बहुत महत्वपूर्ण नहीं होंलेकिन जब हम किसी एक या दूसरे धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, अंततः हमें उनके मूलभूत भेद को स्वीकार करना पड़ता है। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म एवं कई प्राचीन भारतीय पद्धतियों में पुनर्जन्म की धारणा की मान्यता शायद ईसाई धर्म की मोक्ष की मान्यता से असंगत हो,लेकिन इसका निराशा का कारण बनना आवश्यक नहीं है। यहाँ तक कि बौद्ध धर्म में भी तत्वमीमांसा को लेकर बिलकुल परस्पर विरोधी विचार मौजूद हैं।कम से कम ऐसी विविधिता का अर्थ है कि हमारे पास कई ढांचे हैं जिनके अंदर हमें नैतिक अनुशासन एवं आध्यात्मिक मूल्यों को विकसित करने के उपायोंको खोजने की जरूरत है। यही कारण है कि मैं किसी "सर्वोत्तम" अथवा एक नए "विश्वव्यापी" धर्म की वकालत नहीं करता हूँ। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि हम भिन्न धर्म परम्पराओं के विशिष्ट अभिलक्षणों को खो बैठेंगे।

[15]

यह सत्य है कि कुछ लोग मानते हैं कि बौद्ध धर्म की शून्यता की संकल्पना अंततः ईश्वर की संकल्पना को समझने के मार्ग के समान है। लेकिन इसको लेकर समस्या बनी रहती है। सबसे पहले, अवश्य ही हम इन धारणाओं की विवेचना कर सकते हैं, अगर ऐसा करें तो हम धर्मों की मौलिक शिक्षा की ओर कितने निष्ठावान रह पाएंगे? महायान बौद्ध धर्म के

धर्मकाया, संभोगकाया एवं निर्माणकाया के विचार एवं ईसाई धर्म में पिता, पुत्र एवं पावन आत्मा के त्रित्व वाले विचार में घनिष्ठ समानता है। लेकिन बस इसी आधार पर यह कहना कि बौद्ध धर्म एवं ईसाई धर्म अन्ततः एक ही हैं, मेरी समझ से थोड़ी अतिशियोक्ति है! एक तिब्बती कहावत के अनुसार व्यक्ति को याक के सर को भेड़ के शरीर पर या भेड़ के सर को याक के शरीर पर लगाने से सावधान रहना चाहिए।

[16]

बल्कि आवश्यकता है कि अलग अलग धर्मों के भिन्न -भिन्न दावों के बावजूद हम धार्मिक अनेकता के सम्मान की सच्ची भावना का विकास करें। यह विशेष रूप से सत्य है जब हम मानवाधिकारों के वैश्विक सिद्धांत के लिए अपने सम्मान को गंभीरता से लेते हैं।इस सम्बन्ध में मुझे विश्व के धर्मों की महासभा की संकल्पना बहुत आकर्षक लगती है। सर्वप्रथम "महासभा" शब्द प्रजातंत्र के भाव को सूचित करता है एवं बहुवचन शब्द "धर्म" विविध धार्मिक परम्पराओं की प्रणाली की महत्ता को दर्शाता है। धर्मों की ओर सच्चा अनेकतावादी वाला दृष्टिकोण, जो ऐसी महासभा ला सकती है, मेरे विचार में काफी लाभदायक होगा। यह एक तरफ धार्मिक कट्टरता के अतिवाद से बचेगी तो दूसरी तरफ अनावश्यक समन्वयात्मक प्रवृत्ति से।

[17]

धर्मों की परस्पर समन्वयता के मुद्दे के साथ इससे जुड़े धर्म परिवर्तन के बारे में भी मुझे शायद कुछ कहना चाहिए। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे काफी गंभीरता से लेना चाहिए। यह समझना आवश्यक है कि सिर्फ धर्म परिवर्तनव्यक्ति को अच्छा प्राणी--अर्थात ज्यादा अनुशासित, ज्यादा दयालु, एवं अच्छे ह्रदय वाला मनुष्य--नहीं बना सकेगा।इसलिए इससे कहीं ज्यादा लाभदायक होगा कि व्यक्ति आत्मनियंत्रण, सद्गुण एवं करुणा के अभ्यास से स्वंय में आध्यात्मिक रूप से रूपांतर लाने के लिए ध्यान दे। अन्य धर्मों की शिक्षाएँ या परम्पराएँ जंहा तक हमारे धर्म के लिए उपयुक्त अथवा संगत हैं, वंहा तक दूसरे धर्मों से सीखना बहुमूल्य है। कुछ परिस्थितियों में उनमें से कुछ को अपनाना भी शायद उपकारी हो। फिर जब ऐसा समझबूझ के साथ किया जाता है, तब हम अपने धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा बनाये रख सकते हैं। यही सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें भटकने का कोई संकट नहीं है, विशेष कर के विभिन्न जीवन शैलियों को लेकर, जो अलग अलग धर्मों के लिए अलग अलग होती हैं।

[18]

मनुष्यों में विविधता के कारण ऐसा अवश्य ही होगा कि किसी धर्म विशेष के करोड़ों साधकों में से कुछ को किसी दूसरे धर्म की नैतिकता एवं आध्यात्मिकता को विकसित करने

का मार्ग ज्यादा उपयुक्त लगे। कुछ लोगों के लिए पुनर्जन्म एवं कर्म की संकल्पना उत्तरदायित्व के प्रसंग में स्नेह एवं करुणा के विकास के लिए काफी प्रभावी लगेगी। दूसरों के लिए एक सर्वोत्त्कृष्ट, स्नेही संसार के निर्माणकर्ता की संकल्पना ऐसी ही लगेगी। ऐसी परिस्थितिमें यह महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति स्वयं से बार-बार प्रश्न करे। उन्हें अवश्य ही पूछना चाहिए, "क्या मैं इस धर्म की ओर उचित कारण से आकर्षित हूँ? क्या मुझे सिर्फ इसके सांस्कृतिक एवं रीति-रिवाज मोहक लगते है? अथवा, क्या इसकी मुलभूत शिक्षाएँ ? क्या मैं सोच रहा हूँ कि अगर मैं नए धर्म को अपना लूँ तो इसका बोझ मेरे वर्तमान धर्म से कम होगा?" मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि मुझे अक्सर लगता है कि जब लोग अपनी परम्परा से बाहर धर्म अपनाते हैं,अक्सर वे नए धर्म से सम्बंधित संस्कृति के कुछ सतही पक्षों को अपनाते हैं।लेकिन उनकी साधना उससे ज्यादा गहराई तक नहीं जाती है।

[19]

उस व्यक्ति के उदाहरण में जो लम्बे एवं परिपक्व सोच प्रक्रम के बाद भिन्न धर्म को चुनता है, उसके लिए हर धर्म - परम्परा के मानवता के प्रति सकारात्मक योगदान को स्मरण रखना महत्वपूर्ण है।संकट तब होगा जब व्यक्ति अपने निर्णय को दूसरों की दृष्टि में सही ठहराने के लिए अपने पुराने धर्म की आलोचना करने लगे। इससे बचना आवश्यक है। सिर्फ इसलिए कि कोई परम्परा एक व्यक्ति के लिए प्रभावी नहीं है, इसका अर्थ यह नहीं है कि यह अब मानवता की भलाई नहीं कर सकती है। बल्कि इसके विपरीत, हम सुनिश्चित कर सकते हैं कि भूतकाल में इससे करोड़ों लोगों को प्रेरणा मिली थी, कि वर्तमान में यह करोड़ों लोगो को प्रेरित करता है, एवं भविष्य में इससे करोड़ों लोगों को स्नेह एवं करुणा के मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलेगी।

[20]

मन में रखने के लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि अंततः धर्म का पूरा उद्देश्य है स्नेह एवं करुणा, धैर्य, सहनशीलता, विनम्रता, क्षमाशीलता इत्यादि को बढ़ावा देना। अगर हम इनकी उपेक्षा करते हैं तो फिर धर्म परिवर्तन से कोईलाभ नहीं होगा। इसी प्रकार से हम भले ही अपने धर्म में उत्साह से विश्वास करते हों, लेकिन हमें इससे कुछ हासिल नहीं होगा, अगर हम इन गुणों का दैनिक जीवन में अमल नहीं कर सकें। ऐसा साधक उस रोगी से बेहतरनहीं है जिसे कोई जानलेवा रोग हो और जो सिर्फ चिकित्सा के अनेक ग्रंथ पढता हो लेकिन उनमें बताये उपचार को अमल करने में असफल रह जाये।

[21]

इसके अतिरिक्त, अगर हम जो धर्म के साधक हैं, दयालु एवं अनुशासित नहीं हैं तो फिर हम दूसरों से इसकी आशा कैसे कर सकते हैं?अगर हम आपसी आदर एवं समझ के आधार पर सच्ची सद्भावना स्थापित कर सकते हैं तो धर्म में शांति एवं नि:शस्त्रीकरण, सामाजिक एवं

राजनैतिक न्याय तथा पर्यावरण एवं मानवता के अनेक मुद्दों पर अधिकारपूर्वक बात करने का सामर्थ्य होगा। लेकिन जब तक हम अपनी आध्यात्मिक शिक्षा को अभ्यास में नहीं लाते हैं तब तक लोग हमें गंभीरता से नहीं लेंगे। इसका अर्थ है, बाकी मसलों के अलावा, अन्य धर्म परम्पराओं के साथ अच्छे संबंध विकसित करने का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करना।

[22]

मनन योग्य प्रश्न

१. धर्म नैतिक आचरण के साथ लोगों की मदद कैसे कर सकता है?

२. कौन से कारक पारस्परिक सद्भाव में बाधा डालते हैं?

३. धर्म का अभ्यास करने के तरीके पर परम पावन दलाई लामा की सलाह क्या है?

अध्याय १६ - एक विनम्र आग्रह

हम लोग इस पुस्तक के आखिरी कुछ पन्नों तक पहुँच चुके हैं, यह हमें अपने जीवन की अनिश्चितता का स्मरण कराता है । दिन कितनी शीघ्रता से बीतते हैं और कितनी जल्दी हम अपने अन्तिम दिन को पहुँच जायेंगे। पचास सालों से कुछ कम में ही, मैं, तेनज़िन ग्यात्सो, बौद्ध भिक्षु, एक स्मृति से ज्यादा कुछ नहीं रह जाऊँगा। वास्तव में, इन शब्दों को पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति शायद ही आज से सौ साल के बाद जीवित रहेगा। समय अबाधित गतिमान रहता है। जब हम लोग कोई गलती कर देते हैं तो हम घड़ी की सुई को उलटा घुमा कर फिर प्रयास नहीं कर सकते। हम सिर्फ इतना कर सकते हैं कि वर्तमान का सदुपयोग करें। इसलिए, यदि हम जीवन के अन्तिम दिनों में अपने जीवन का पुनरावलोकन करने पर देखसकें कि हमारा जीवन कुशल, उपयोगी, एवं अर्थपूर्ण रहा है, तो हमें कम से कम थोड़ीशान्ति मिलेगी। अगर हम ऐसा नहीं कर पाएं, तो शायद हम बहुत दुखी होंगे । इनमें से हमारा अनुभव क्या होगा वह हम पर निर्भर करता है।

[1]

हम अपने जीवन के अन्त तक बिना किसी पछतावे के पहुँचें, इसका सबसे उत्तम उपाय है, कि वर्तमान समय में हमारा व्यवहार उत्तरदायित्व पूर्ण और दूसरों के लिए करुणामय हो । वास्तव में, ऐसा करना हमारे ही हित में है, सिर्फ इसलिए नहीं कि भविष्य में हमें इसका लाभ मिलेगा। जैसा कि हमने देखा है कि हमारे जीवन को अर्थपूर्ण बनाने वाली महत्वपूर्ण चीज़ों में करुणा का महत्वपूर्ण स्थान है। करुणा हमारे जीवन के लिए स्थायी खुशी एवं मंगल का स्रोत है। करुणा अच्छे दिल की नींव है, एक ऐसे मनुष्य अथवा स्त्री का हृदय जो

दूसरों के हित के लिए कार्य करता है। सबके प्रति करुणा से, स्नेह से, ईमानदारी से, सच्चाई एवं न्याय के साथ व्यवहार कर हम अपना ही कल्याण सुनिश्चित करते हैं । यह कोई जटिल परिकल्पना नहीं है। यह व्यावहारिक ज्ञान की बात है। इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि दूसरों का ख्याल रखना उचितहै । इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि हमारी खुशी हमारे सहजीवियों की खुशी के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है और यदि हमारा समाज दुःख में होता है तो हम भी दुखी रहते हैं । इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि हमारे हृदय एवं मन में दूसरों के प्रति जितना ही द्वेष होगा हम उतना ही दुखी होते हैं। इस प्रकार से हम विचारधारा, धर्म, गृहीत ज्ञान, सबका तिरस्कार कर सकते हैं, किन्तु हम स्नेह एवं करुणा की आवश्यकता से नहीं बच सकते हैं।

[2]

फिर, मेरा यह साधारण सा विश्वास ही मेरा वास्तविक धर्म है। इस समझ में हमें मंदिर, गिरिजाघर, मस्जिद या सिनागॉगकी कोई जरुरत नहीं है और न ही जटिल दर्शनों, सिद्धांतों या मतों की। हमारा अपना हृदय, अपना मन ही मंदिर है । करुणा हमारा सिद्धांत है। दूसरों के लिए स्नेह, अधिकार एवं मर्यादा का आदर चाहे वे जो भी हों, अंततः हमें इसकी आवश्यकता है। जब तक हम लोग इन बातों का अपने दैनिक जीवन में अभ्यास करते हैं, तब तक इसका कोई महत्व नहीं कि हमने क्या सीखा या क्या नहीं सीखा, हम बुद्ध में विश्वास करते हैं या भगवान में, हम किसी धर्म के अनुयायी हैं या किसी भी धर्म को नहीं मानते हैं, जब तक हममें दूसरों के प्रति करुणा है और हमारा आचरण उत्तरदायित्व की भावना से नियंत्रित है, इसमें कोई संदेह नहीं है कि हम खुश होंगे।

[3]

यदि खुश रहना इतना आसान है तो इसकी प्राप्ति इतनी कठिन क्यों है ? दुर्भाग्य से, हम से ज्यादातर लोग खुद को दयालु तो समझते हैं, लेकिन हमारी इस व्यावहारिक सच्चाई को अनदेखा करने की प्रवृत्ति है। हम उस किसान की तरह कार्य नहीं करते हैं जो मौसम की निगरानी करता है और सही समय के आने पर खेती करने में हिचकिचाता नहीं है, बल्कि हम बहुत सारा समय अर्थहीन कार्यों में बर्बाद करते हैं । हम पैसे खोने जैसी छोटी बातों पर गहन पश्चाताप करते हैं और बिना थोड़ी सी भी ग्लानि के उन कार्यों से दूर रहते हैं जो वास्तव में महत्वपूर्ण है। दूसरों के कल्याण में सहायक होने के अवसर पाकर खुश होने के बदले जहाँ तक हो सकता है हम केवल अपने आनंद में ही लिप्त रहते हैं।हम बहुत व्यस्त होने के बहाने से दूसरों की मदद करने से कतराते हैं। हम जोड़-तोड़ करते हुए, टेलीफोन लगाते हुए, और यह सोचते हुए कि यह उससे अच्छा होगा, बायें और दायें दौड़ते रहते हैं। हम एक काम करते हैं लेकिन चिंता करते हैं कि अगर कुछ और आ पड़ा तो हमें कुछ और करना चाहिए। लेकिन इन सबके चक्कर में हम चित्त के सबसे अपरिष्कृत और निम्न स्तर

पर ही सीमित रह जाते हैं।इसके अतिरिक्त, दूसरों की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देने के कारण, हम अंततः उनकी हानि कर बैठते हैं।हम खुद को बुद्धिमान समझते हैं, लेकिन अपनी योग्यता का कैसे उपयोग करते हैं? अक्सर हम अपनी बुद्धि का उपयोग अपने पड़ोसियों को धोखा देने में, उन्हें हानि पहुँचाकर अपना फायदा करने में करते हैं और जब हमारा काम नहीं बनता है तो दम्भ से भरपूर हो कर उन्हीं को दोष देते हैं।

[4]

फिर भी, स्थायी संतुष्टि सिर्फ सामान इकट्ठा करने से नहीं प्राप्त हो सकती है।चाहे हमलोग कितने ही मित्र बना लें, वे हमें सुखी नहीं बना सकते।शारीरिक भोग में लिप्त रहना ठीक वैसे ही दुःख का द्वार है।यह तलवार की धार पर लगी हुई शहद की तरह है।अवश्य ही हम यह नहीं कहते हैं कि हमें अपने शरीर से घृणा नहीं करनी चाहिए।बल्कि, बिना शरीर के हम दूसरों की सहायता भी नहीं कर सकते।लेकिन हमें ऐसी अति से दूर रहना चाहिए, जिससे हानि होने की प्रवृत्ति होती है ।

[5]

सांसारिक वस्तुओं पर ध्यान देने से आवश्यक बातें हम से छिपी रहती हैं।अवश्य ही, अगर हम ऐसा करते हुए वास्तव में सुखी रहते तो ऐसे जीना बिलकुल ठीक होता। लेकिन, ऐसा होता नहीं है।बहुत हुआ तो हमलोग अपना जीवन बिना किसी बड़ी परेशानी के काट लेते हैं।लेकिन जब कठिनाइयाँ आक्रमण करती हैं, जो अवश्य करेंगी, तब हम उनके लिये तैयार नहीं होते हैं। हम पाते हैं कि हम उन्हें सहन नहीं कर सकते।हम निराश और दुखी छूट जाते हैं।

[6]

इसीलिए मैं आपसे करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि आप अपना शेष जीवन यथासम्भव अर्थपूर्ण बनायें। अगर हो सके तो आध्यात्मिक कार्यों में लग कर ऐसा करें। मैं आशा करता हूँ कि मैंने स्पष्ट कर दिया है कि इसमें कोई रहस्य नहीं है। इसमें हमें दूसरों के कल्याण की चिंता से कार्य करने से ज्यादा कुछ नहींहै। अगर आप इस कार्य को ईमानदारी और दृढ़ता के साथ करेंगे तो धीरे धीरे आप अपनी आदतों और अपनी प्रवृत्तियों में सार्थक परिवर्तन ला सकते हैं जिससे आप अपने संकीर्ण स्वार्थ के बारे में कम सोचेंगे और दूसरों के लिए ज्यादा।ऐसा करने में, आप पाएंगे कि आप शांतिऔर सुख का आनंद स्वयं ही ले रहेहैं।

[7]

ईर्ष्या को त्याग दें, दूसरों पर विजय करने की इच्छा को छोड़ दें। इसके बदले, दूसरों का कल्याण करने का प्रयास करें।दयालुता के साथ, साहस के साथ, और इस आत्मविश्वास के साथ कि ऐसा करने से आपको जरूर सफलता मिलेगी, दूसरों का स्वागत मुस्कान के साथ

करें। सरल बनें। निष्पक्ष होने का प्रयास करें । सभी के साथ ऐसा बर्ताव करें जैसे कि वे आपके घनिष्ठ मित्र हों।मैं ऐसा न तो दलाई लामा की हैसियत से कहता हूँ न ही किसी ऐसे व्यक्ति की हैसियत से जिसके पास कोई अलौकिक शक्ति है।मेरे पास ऐसा कुछ नहीं है।मैं यह बात एक ऐसे मानव की हैसियत से कह रहा हूँ जो आप ही की तरह सुखी रहना चाहता है और पीड़ा नहीं चाहता है।

[8]

किन्तु यदि आप किसी भी कारणवश दूसरों की सहायता नहीं कर सकते हैं तो कम से कम उनको नुकसान न पहुँचाएँ। आप खुद को सैलानी समझें। दुनिया को ऐसे समझे जैसे वह अंतरिक्ष से दिखती है, इतनी छोटी और नगण्य फिर भी कितनी सुन्दर।क्या वास्तव में दूसरों का नुकसान कर हमें कुछ हासिल हो सकता है, जब हम यहां ठहरे हुऐ हैं?क्या यह बेहतर और उचित नहीं है कि हम आराम करें और शांतिपूर्वक आनंद लें, एकदम ऐसे जैसे हम किसी दूसरे मोहल्ले में हों? इसीलिए, जब आप दुनिया का आनंद ले रहे हैं और आपके पास थोड़ा समय है तब आप उन व्यक्तियों की ,छोटी ही सही,मदद करें जो असहाय हैं और किसी कारण से अपनी देखभाल नहीं कर सकते हैं अथवा नहीं करना चाहते हैं। ऐसे लोगों से मुंह न फेरें जिनकी वेशभूषा आपको विचलित करे, जो फटे कपड़ों में हों या रोगी हों।ऐसा सोचने का प्रयास न करें कि वे आपसे हीन हैं। अगर सम्भव हो तो आप स्वयं को एक गरीब से गरीब भिखारी से भी श्रेष्ठ न समझें। मृत्यु के बाद आप भी बिलकुल उन्हीं की तरह दिखेंगे।

[9]

अंत में मैं आपको एक छोटी सी प्रार्थना के बारे में बताना चाहता हूँ जिससे मुझे दूसरों की मदद करने के अपने प्रयास में बहुत प्रोत्साहन मिला है -

काश मैं ऐसा बन पाऊँ हर क्षण, अभी और हमेशा के लिए

असुरक्षित का रक्षक बनकर

पथ भटके को पथ दिखलाऊँ

उनका बनूँ जहाज जिन्हें सागर पार करनाहै

नदी पार जाने वालों का पुल बन जाऊँ

संरक्षक उनका बनकर जो संकट में हैं

अंधकार में फँसे जनों को दीप दिखाऊँ

शरणस्थली बनूँ उनकी जो शरणार्थी हैं

और जरूरतमंदों का सेवक बन जाऊँ

मनन योग्य प्रश्न

१. हमारे जीवन में दया और करुणा क्या भूमिका निभा सकती है?

२. परम पावन दलाई लामा ने किस चीज़ को अपने "सरल विश्वास" कहा है?

३. इस अध्याय में लेखक ने जो अपील की है, उसका वर्णन करें।